देवेन्द्र सत्यार्थी

जन्म २८ मई, १९०८ : प्रकाशित रचनाएं—लोकगीत सम्बन्धी : पंजाबी में—'गिद्धा', १९३६, 'दीवा बले सारी रात', १९४१; उर्दू में—'मैं हूं खानाबदोश', १९४१, 'गाये जा, हिन्दुस्तान', १९४६; अंग्रेजी में—'मीट माई पीपल', १९४६; हिन्दी में—'धरती गाती है', १९४८, 'धीरे बहो, गंगा!', १९४८, 'बेला फूले आधी रात', १९४८, 'जय लोकगीत', १९५०; कविता : पंजाबी में—'धरती दीयां वाजां', १९४१, 'मुढ़का ते कणक', १९५०; हिन्दी में—'बन्दनवार', १९४९; कहानियां : पंजाबी में—'कुंग पोश', १९४१, 'सोना गाची', १९५०; उर्दू में—'नये देवता', १९४३, 'और बांसुरी बजती रही', १९४६; हिन्दी में—'चट्टान से पूछ लो', १९४८, 'चाय का रंग', १९४९, 'सड़क नहीं, बन्दूक', १९५०, 'नये धान से पहले', १९५०; निबन्ध : हिन्दी में—'एक युग : एक प्रतीक', १९४८, 'रेखाएं बोल उठीं', १९४९।

संयुक्त रूप से सम्पादित ग्रंथ : अंग्रेजी में—'डिवेल्पिंग विलेज इण्डिया', १९४६; हिन्दी में—'मुन्शी अभिनन्दन ग्रन्थ', १९५०।

क्या गोरी क्या सांवरी
चित्रकार
शैलज मुखर्जी

देवेन्द्र सत्यार्थी

चेतना प्रकाशन हैदराबाद

सात रुपये

प्रकाशक
चेतना प्रकाशन लिमिटेड,
आबिद रोड, हैदराबाद।
मुद्रक
नवीन प्रेस, फैज़ बाज़ार, दिल्ली।

जी हां, मैं उन्हें जानता हूं,
जी हां, मैं उन्हें मानता हूं,
यह मेरा सौभाग्य कि हम दोनों हैं समकालीन।
मुझे प्रिय है उनकी प्रतिभा
मैं उन्हें खूब पहचानता हूं।
आज नहीं संकोच,
आज नहीं सन्देह,
आज नहीं, आतंक,
मैं प्रतिभा की प्रसव-वेदना खूब जानता हूं
जी हां, मैं उन्हें मानता हूं।

वासुदेवशरण अग्रवाल को

सूची

आमुख

रोमां रोलां ने प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् झुंझला कर एक निबन्ध में लिखा था—"असली पापी है सोना, और यूरोपीय राजनीति में जो अवर्णनीय गड़बड़ी फैली हुई है उसका सबसे बड़ा कारण है सोने की सिलों का ढेर। इतने दिनों तक सोना ही युद्ध को प्रभावित करता रहा है और यही सोना आज शान्ति को प्रभावित कर रहा है। यही सोना लड़ाई का रास्ता पकड़ेगा—एक लड़ाई का और आवश्यकता पड़ने पर दस लड़ाइयों का।"

दूसरा विश्व-युद्ध लड़ा जा चुका है और आज तीसरे विश्व-युद्ध की चर्चा सुनकर प्रत्येक चिन्तक और साहित्यकार भयभीत हो उठता है। क्या यह युद्ध अवश्य होगा? मैं सोचता हूं इसके विरुद्ध लिखूं। फिर सोचता हूं—नहीं, पहले और निबन्ध लिख लूं। मन में दबका बैठा आलोचक कह उठता है—अजी वाह, क्या श्रीमानजी का विचार है कि और निबन्ध लिखने के पश्चात् आप एक ऐसा निबन्ध लिखेंगे जिसके प्रभाव से तीसरा विश्व-युद्ध रुक जायगा? मैं झेंपना नहीं चाहता। मैं चमक कर कहता हूं—जी हाँ, एक निबन्ध में भी इतनी शक्ति हो सकती है कि एक विश्व युद्ध को रोक दे।

अतीतप्रिय, परम्परावादी और बुद्धिजीवी साहित्यकारों की कुलीन गोष्ठी में बैठे रहने को अब मन नहीं होता। ये लोग वर्तमान या भविष्य के बारे में कोई खुशखबरी नहीं सुना सकते, न वे किसी प्रकार की क्रान्ति-चेतना को ही स्वीकार करते हैं। कलानिष्ठा, सत्यप्रियता और सौंदर्यबोध का राग अलापा जाता है अवश्य, पर ये लोग तो कला और साहित्य को केवल प्रसाधन और परम्परा की वस्तु बनाकर रखना चाहते हैं। इसीलिए मैं कहता हूं कि मुझे उनसे प्रेरणा नहीं मिलती।

जन-प्रतिभा के वातायन आज भी खुले रखने होंगे। मैं नहीं चाहता कि जनता को भुला कर और वर्तमान और भविष्य की माँगों से विमुख हो कर हम एक नन्ही-मुन्नी-सी गोष्ठी में साहित्य और कला पर विचार करने बैठें।

सत्य तो यह है कि 'कुलीन' किस्म के साहित्यकार ठीक बात कहने से चूक जाते हैं, क्योंकि बात कहने से पहले इसे समझना होता है। और यह बात उनके बस का रोग नहीं।

ये कौन लोग हैं जो कला और साहित्य को पवित्र, परिच्छन्न, स्वतन्त्र और निष्पक्ष रखने की बात उठाते हैं? वे प्रतिभा के विकास के किस स्तर पर खड़े हैं? क्या वे चाहते हैं कि युद्ध की बात उठती रहे और जनता दुःख भोगती रहे और वे जनता से दूर कला और साहित्य के शीशमहल में बैठे अतीत के गौरव पर विचार किया करें।

कला हो चाहे साहित्य, आज उसकी कसौटी यही है कि वर्तमान और भविष्य के प्रति उसका क्या रुख है।

साहित्यकार का प्रयत्न आज यह होना चाहिए कि समूचा विश्व सांस्कृतिक एकसूत्रता में बंध जाय, युद्ध की भावना ही मिट जाय और सर्वत्र उस शान्ति की स्थापना हो जाय जिसके लिए देश-देश में जनता ने महान् प्रयत्न किये हैं। क्यों न सभी देश एक-दूसरे के प्रति वह मैत्री-भाव दृढ़ करें जिसके बिना अन्तर्राष्ट्रीय कला और साहित्य का पथ रुका-सा

रहा है ? एक विश्व, एक जनता—यही वह दृष्टिकोण है जिसकी अभिव्यक्ति की आज देश-देश के साहित्य में आवश्यकता है।

आज जब घृणा की बाढ़ आ रही है 'एक विश्व, एक जनता' की आवाज कौन सुनेगा ? मैं झुंझला उठता हूँ और सोचता हूँ कि साहित्यकार के रूप में मुझे समूचे विश्व की ओर से बोलने का अधिकार मिलना चाहिए।

देश-देश में एक नया व्यक्तित्व जन्म ले कर रहेगा। यह विध्वंस-लीला अब अधिक दिन नहीं चल सकती। सृजन ! सृजन ! सृजन ! आज सर्वत्र दबे-पिसे मानव की यही पुकार सुनाई दे रही है।

अभी अगले ही दिन एक कवि से भेंट हुई। पता चला कि उसने एक कविता लिखी है। अनुरोध करने पर वह कविता सुनने को मिल गई। शुरू से आखिर तक कवि ने खूब विष उगला था। उसका कथन यही था कि इस संसार का विध्वंस कर दिया जाय। कवि इस भावावेश से यहाँ तक कह गया था कि वह अपनी आँखों पर लगा हुआ चश्मा तक तोड़ डालना चाहता है। फिर उसकी बुद्धि ने पलटा खाया और किसी तरह उसे यह समझ आ गई कि विध्वंस ही क्यों। बस अन्त में वह सृजन का पक्ष लेने पर मजबूर हो गया। जैसे उसे इस दुनिया पर तरस आ गया हो और यही सोचकर रह गया हो कि इसकी रक्षा का सबसे बड़ा दायित्व उसी पर है।

वास्तविक सृजन उस दिन आरम्भ होगा, जब देश-देश में न्याय और

समृद्धि की एक साथ और एक बराबर छाप होगी—वैसे ही जैसे सर्वत्र एक ही सूर्य चमकता है, एक ही चाँद चमकता है।

भाषा बदल रही है, दृष्टिकोण बदल रहा है। सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य बदल रहे हैं। इस अवस्था में अतीत के प्रति अन्धभक्ति कहाँ तक हमारे लिए सहायक सिद्ध हो सकती है? इसीलिए तो मैं आज अतीत के चरणों पर आत्मसमर्पण करने के लिए कभी तैयार नहीं हो सकता।

समय के रथ के पहिए तो तेज़ी से चल रहे हैं। ये तो रुक नहीं सकते। फिर मैं कैसे रुक जाऊँ? किसे इतना समय है कि खड़ा होकर पीछे की ओर झाँकता रहे?

मानवता की परम्परा को मैं वर्तमान के मुख पर देख लेता हूं और भविष्य में भी इसे देखते रहने की इच्छा से आगे बढ़ जाता हूँ। कोई एक ही चीज़ मुझे बाँध कर नहीं रख सकती।

निबन्धकार के रूप में मेरा मुँह सदा मनुष्य की ओर रहता है। मनुष्य के साथ-साथ मैं प्रकृति को भी देखता हूं। मुझे पता रहता है कि कहाँ-कहाँ नये रास्ते मेरी बाट जोह रहे हैं। जिन रास्तों को मैं अपने पैरों से नाप चुका हूँ, उनकी याद कभी नहीं भूलती। पर मन झट कह उठता है—आगे बढ़ो! रास्ता नापो!

किसी नये व्यक्ति से मिल कर मुझे उतनी ही खुशी होती है जो किसी को नया देश देख कर होती होगी। चलते-चलते मैंने अनेक बार यह अनुभव

किया है कि मेरे पैरों के नीचे की धरती मुझ से बोल रही है।

मैं समझता हूँ कि आज के निबन्धकार पर यह दायित्व आ गया है कि वह पुरानी संस्कृति में जकड़ी हुई जनता को झंझोड़ कर नई संस्कृति के निर्माण के लिए तैयार करे। वस्तुतः आज जनवादी संस्कृति ही प्रगतिशील शक्तियों का साथ दे सकती है। पुरानी संस्कृति पर सामन्तवादी छाप की प्रधानता है। नये जनवादी दृष्टिकोण द्वारा संस्कृति के मूल्यों को फिर से प्रस्तुत करना, अज्ञान में डूबे व्यक्तियों के लिए उन खुली हवाओं का स्पर्श उपलब्ध करना जो आज देश-देश में चल रही हैं, उत्पीड़ित और आर्थिक दृष्टि से शोषित जनता को भरे-पूरे जीवन के अधिकार प्राप्त करने के लिए शक्तिशाली बनाना—यह समूचा दायित्व आज निबन्धकार पर आ गया है। हाँ, एक बात का अवश्य ध्यान रखना होगा। निबन्धकार को नारेबाजी के स्तर से ऊँचा उठकर गम्भीर चिन्तन और अध्ययनशील आदान-प्रदान के मुक्त वातावरण में लेखनी से काम लेना होगा।

निबन्धकार की भाषा पर जनता की भाषा की गहरी छाप रहे—यह तो आवश्यक है। कोई भी विषय निबन्धकार की लेखनी से अछूता नहीं रहना चाहिए। निबन्धकार के सम्मुख नये जीवन के विकास की बात तो सदैव उभरती रहे। तभी उसे अपने कार्य में सफलता प्राप्त हो सकती है।

औरों की बात छोड़िये। मैं स्वयं लेखनी से काम लेते समय यह बात याद रखता हूँ कि सामन्तवादी संस्कृति की भूल-भुलैयों में चक्कर काटने से बचूं और नये युग के प्रगतिशील वातावरण में विचरते हुए धरती का नया चेहरा देखने का यत्न करूं।

कुछ पुराना कुछ नया—अभी तक तो मैं कुछ मिलीजुली-सी वस्तु ही प्रस्तुत कर पाता हूँ। हाँ, मैं निश्चित मंजिल की ओर अग्रसर होने के लिए प्रयत्नशील हूँ। यह और बात है कि अनेक बार मन पीछे की ओर

मुड़ जाता है । कुछ हद तक तो यात्री की दृष्टि से मैं इसे भी अनुचित नहीं समझता ।

अब रही 'क्या गोरी क्या साँवरी' की बात। मेरा यह दावा बिल्कुल नहीं कि सभी निबन्ध एक ही श्रेणी के हैं या यह कि सब का महत्त्व एक जैसा है ।

कहीं गोरे और काले रंग के सम्बन्ध में विवेचना के स्पर्श द्वारा यह घोषित किया गया है—"हमारे देश में गोरे और काले रंगों के बीच अनेक शेड नज़र आते हैं। ध्यान से देखें तो एक-एक 'शेड' के बीच वही अन्तर है जो संगीत के सात स्वरों के बीच होता है।" कहीं रामू भाई और उनकी कन्या गुलबदन के चित्र उभरते हैं, साथ ही गुजरात के सुविख्यात साहित्यकार और गुजराती लोकगीतों के संग्रहकर्त्ता स्व० झवेरचन्द मेघाणी के प्रति स्नेहधारा बहती है । कहीं इतिहास की चर्चा की गई है—"भारत के इतिहास हमें सम्राटों और उनकी साधारण विजयों, युद्धों और रक्तपातों की कथा सुनाते हैं, पर भारत का वास्तविक इतिहास ग्रामीण भारत के उन गीतों में निहित है जो यह बताते हैं कि शताब्दियों से लोग कैसा जीवन व्यतीत करते आये हैं ।" कहीं पंजाबी साहित्यकारों की चर्चा की गई है—"पंजाबी-भाषी साहित्यिकों ने हिन्दी माध्यम को अपनाने पर भी पंजाबी का सिर नीचा नहीं होने दिया, क्योंकि उन्होंने हिन्दी में लिखते हुए भी पंजाबी रंग को छोड़ा नहीं ।"

'चम्बा याद रहेगा', 'केरल के जलमार्ग पर', 'गोदावरी' और 'मणिपुर'

यात्रा निबन्ध हैं । 'ठक्कर बापा' और 'चित्र सामने पड़ा है' श्रद्धांजलि निबन्ध हैं । 'दीये तो जलेंगे' और 'मेले भी आते रहे' की सृष्टि सांस्कृतिक चित्रपट पर हुई है ।

'भारत की राष्ट्रभाषा', 'अध्ययन कक्ष में' और 'महादेव भाई की डायरी' में एक अध्ययनशील व्यक्ति की आवाज़ उभरती है । 'यशपाल' और 'बलवन्तसिंह'—ये दो निबन्ध दो साहित्यकारों के गिर्द घूमते हैं और इनकी शैली भी एक-दूसरे से उतनी ही भिन्न है जितने भिन्न कि स्वयं ये साहित्यकार हैं ।

'मेरी जन्मभूमि' में जहाँ मैंने अपने जन्मग्राम के इतिहास का अनुसन्धान करने का यत्न किया है, वहाँ मैंने बचपन के साथी नूरा गडरिया को भी भुलाया नहीं, जो नये युग के स्वागत में बाहें फैलाये खड़ा है ।

मुझे भय है कि कहीं 'अलका भी मिल गई' एकदम व्यक्तिगत चीज़ न समझ लिया जाय । जो हो, मैंने इसे भी खुली मजलिस में रखने से सकोंच नहीं किया ।

जो लोग निबन्ध को शुष्क-सी चीज़ समझते हैं, उनका ध्यान मैं आज अपनी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ । हरबार यों नया निबन्ध लिखते समय मुझे यह लगता है कि मंजिल मेरे सामने है और मैं बड़ी तेजी से पग उठा रहा हूँ । इसीलिए मैं अपनी लेखनी से भी कहता हूँ—आज तो तुझे भी द्रुतगति से आगे बढ़ना होगा, और कुछ कर दिखाना होगा ।

१००, बेयर्ड रोड, नई दिल्ली
१३ सितम्बर, १९५०

देवेन्द्र सत्यार्थी

क्या गोरी क्या साँवरी

'गोरे मुख पर सोहे काली चूंदड़ी!' यह गान बहुत पहले सुना था। उस दिन चर्चा का विषय गोरी और साँवरी पर आ कर अटक गया तो इस गान का ज़िक्र भी आवश्यक हो गया।

मेरे मित्र का ख़्याल था कि इस गान का जन्म राजस्थान में हुआ होगा जहाँ मरुभूमि में जल भले ही मिल जाय, पर समूचे राजस्थान में कहीं कोई गोरी नज़र नहीं आयगी। मैंने उसे सम्भल कर बात करने की ताकीद की। वह बराबर यही कहता चला गया—"राजस्थान में गौर वर्ण बहुत दुर्लभ है, बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वास्तविक गौर वर्ण का वहाँ एकदम अभाव है। यह बात मैं और भी ज़ोर देकर कहूँगा कि पीले रंग को कोई भला आदमी गोरा रंग कहने की भूल नहीं कर सकता।"

'गोरे मुख पर सोहे काली चूंदड़ी!' फिर से गान के बोल गुनगुनाते हुए मैंने कहा—"गोरे और साँवरे रंग की होड़ में पीला रंग कहाँ से आ गया? भाई मेरे, यों बाल की खाल निकालने से तो कुछ हाथ आने से रहा। पीला रंग अपने स्थान पर है, गोरा रंग अपने स्थान पर, और भई वाह!

साँवरे रंग की दूसरी ही बात है !"

मेरा मित्र कह उठा—"तुम तो हर रंग की प्रशंसा कर सकते हो। सुन्दर असुन्दर की पहचान में तुम इसीलिए हमेशा मात खा जाते हो।"

गोरे और साँवरे रंग की बात से उछल कर सुन्दर और असुन्दर की चर्चा आ जायगी, मैं इसके लिए तैयार न था। लगे हाथ मैंने सुविख्यात् उपन्यासकार शरत् चन्द्र के एक पत्र का उद्धरण प्रस्तुत कर दिया—"आचार्यों का मत है कि कला-साधना का मूल है सत्य, शिव और सुन्दर अर्थात् साधना सत्य और सुन्दर के ऊपर प्रतिष्ठित हो तथा उसका फल हो कल्याणकारी। जो विज्ञान के साधक हैं (तत्त्व ज्ञान की बात नहीं कहता, बल्कि साधारण सांसारिक अर्थ में) अर्थात् जो वैज्ञानिक हैं उनका एकमात्र मन्त्र है सत्य। साधना का फल सुन्दर हो, असुन्दर हो, कल्याणकारी हो, अकल्याणकारी हो, किसी से भी मतलब नहीं। हो, अच्छा ही है; न हो, अपराध नहीं। किन्तु साहित्य-साधना का एक पुराना पथिक होकर मैं यही अनुभव करता आ रहा हूँ कि इस मार्ग में पग-पग पर विरोध है। संसार की जिस घटना में हम सत्य पाते हैं, वह हो सकता है साहित्य में सुन्दर न हो। और जो सुन्दर है, वह साहित्य में एक बार ही मिथ्या हो सकती है। जिसे सत्य के नाम से जानता हूँ, उसे मूर्तिमान करने की चेष्टा में देखा है, या तो वीभत्स हो जाता है या कलाकार शिव एवं सत्य को छोड़ कर भी सुन्दर का रूप-दर्शन नहीं पाता। ठीक इसी प्रकार मंगल और अमंगल की बात भी। पूछता हूँ, सत्य यदि सुन्दर का परिपन्थी है तो फिर साहित्य की साधना में इस समस्या का निदान क्या है?"

बात फिर गोरे और साँवरे पर केन्द्रित हो गई। मैंने कहा—"शरत् चन्द्र यह गान सुनते तो अवश्य दाद देते। पर हो सकता है वे कह उठते—गोरे मुख पर काली चूंदड़ी के सजने की बात तो निर्विवाद सत्य है, पर देखना तो यह है कि क्या केवल गोरा रंग ही सौन्दर्य की शर्त हो सकता है।"

"तो क्या गोरी भी असुन्दरी हो सकती है ?" मेरा मित्र कह उठा, "भाई मेरे, एक तो गोरा रंग दुर्लभ है, दूसरे तुम गोरी को भी असुन्दरी कहने का दुःसाहस करोगे तो इसे सौन्दर्य के प्रति अन्याय कहा जाय या नहीं ?"

मैंने कहा—"सच पूछो तो मुझे तो सांवरी ही अपनी ओर अधिक आकर्षित करती है। तुम मेरी बात को हँसी में उड़ाने का साहस नहीं कर सकोगे !"

"वह कैसे ?" उसने चमक कर पूछ लिया।

मैंने कहा—"रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता है 'कृष्णकली' जिसमें एक काले रंग की कन्या की जी खोल कर प्रशंसा की गई है—

कृष्णकलि आमि तारेइ बलि,
काली तारे बले गाँयेर लोक।
मेघला दिने देखेछिलाम माठे
काली मेयेर कालो हरिण चोख।
घोमटा माथाय छिल ना तार मोटे,
मुक्तवेणी पिठेर परे लोटे।
कालो, ता से यतइ कालो होक
देखेछि तार कालो हरिण चोख॥
घन मेघे आँधार हल देखे
डाकतेछिल श्यामल दुटि गाई,
श्यामा मेये व्यस्त व्याकुल पदे
कुटीर हते त्रस्त एल ताइ।
आकाश पाने हानि युगल भुरू
शुनले बारेक मेघेर गुरु गुरु।
कालो, ता से यतइ कालो होक
देखेछि तार कालो हरिण चोख॥

पूवे वातास एल हठात धेये
　　　　धानेर खेते खेलिये गेल ढेउ ।
आलेर धारे दाँडियेछिलाम एका,
　　　　माठेर माझे आर छिल ना केउ ।
आमार पाने देखले कि ना चेये
आमिइ जानि और जाने सेइ मेये ।
　　　　कालो, ता से यतइ कालो होक
　　　　देखेछि तार कालो हरिण चोख ॥
एमनि करे कालो काजल मेघ
　　　　जैष्ठ मासे आसे ईशान कोणे ।
एमनि करे कालो कोमल छाया
　　　　आषाढ़ मासे नामे तमाल वने ।
एमनि करे श्रावण रजनीते
हठात खुसि घनिये आसे चिते ।
　　　　कालो, ता से यतइ कालो होक
　　　　देखेछि तार कालो हरिण चोख ॥
कृष्णकलि आमि तारेइ बलि,
　　　　आर या बले बलुक अन्य लोक
देखेछिलेम मयनापाडार माठे
　　　　कालो मेयेर कालो हरिण चोख ॥
माथार परे देयनि तुले वास,
लज्जा पावार पायनि अवकाश ।
　　　　कालो, ता से यतइ कालो होक
　　　　देखेछि तार कालो हरिण चोख ॥

—'कृष्णकली मैं उसी को कहता हूँ

क्या गोरी क्या साँवरी

गाँव के लोग भी उसे काली कहते हैं
मेघला दिन में उसे मैदान में देखा था—
काली कन्या की हिरन की सी काली आंखें
घूँघट बिलकुल नहीं था उसके सिर पर
मुक्त वेणी पीठ पर लोट रही थी
काली कन्या चाहे कितनी ही काली क्यों न हो
मैंने देख लीं उसकी हिरन की सी काली आंखें !

घने मेघों में अँधेरा होते देख कर
वह अपनी दोनों श्यामल गौओं को बुला रही थी
साँवली कन्या व्यस्त व्याकुल पैरों से चलती हुई
त्रस्त होकर झोंपड़ी से बाहर आ गई
आकाश की ओर अपनी दोनों पलकें उठा कर
उसने एक बार मेघ की गुर-गुर ध्वनि सुनी
काली कन्या चाहे कितनी ही काली क्यों न हो
मैंने देख लीं उसकी हिरन की सी काली आंखें !

पुरवाई हठात् वेग से चल कर
धान के खेत में तरंग भरती निकल गई
बाँध के किनारे मैं अकेला खड़ा था
मैदान में और कोई नहीं था
उसने मेरी ओर देखा या नहीं
यह मैं जानता हूँ या वह कन्या
काली कन्या चाहे कितनी ही काली क्यों न हो
मैंने देख लीं उसकी हिरन की सी काली आंखें !

इसी प्रकार काला काजल मेघ
जेठ मास में ईशान कोण में आता है
इसी प्रकार काली कोमल छाया
आषाढ़ मास में उतरती है तमाल वन में
इसी प्रकार श्रावन मास की रजनी में
हठात् खुशी उमड़ पड़ती है चित्त में
काली कन्या चाहे कितनी ही काली क्यों न हो
मैंने देख लीं उसकी हिरन की सी काली आंखें !

कृष्णकली मैं उसी को कहता हूं
दूसरे लोग जो कहना चाहें सो कहें
मयना पाड़ा के मैदान में मैंने देख लीं
काली कन्या की काली आंखें
उसने माथे पर घूंघट नहीं किया
लज्जा अनुभव करने का उसे अवकाश नहीं मिला
काली कन्या कितनी ही काली क्यों न हो
मैंने देख लीं उसकी हिरन की सी काली आंखें !'

मेरा मित्र कह उठा—"अब तुम्हारी बात कुछ-कुछ समझ में आई । कृष्णकली की प्रशंसा में कवि की वाणी कितनी सजग है ।"

मैंने कहा—"फ्रांसीसी कवि बादलेयर अपनी जाति के अन्तर्गत नारी हृदय पर अधिकार प्राप्त न कर सका तो उसे एक नीग्रो स्त्री से प्रेम हो गया । एक कविता में उसने अपनी नीग्रो प्रेयसी की ही प्रशंसा की है—'उसकी हर बात काले रंग की है । वह तो अँधेरी रात की आत्मा दिखाई देती है—अंधकार की आत्मा ! वह एक आबनूसी सूरज है, एक काला

तारा । फिर भी आनन्द की किरनें उसमें से फूट रही हैं......वह एक रजत वर्ण तारा नहीं जो लोगों के संतोषमय स्वप्नों में मुस्कराता हो, बल्कि एक साँवली, क्रुद्ध देवी है !' "

वह बोला—"वाह, बादलेयर साहब, यह भी खूब रही । जब गोरी न मिली तो काली-कलूटी नीग्रो प्रेयसी पर मर मिटे । हाँ भई, जब काली-कलूटी की इतनी प्रशंसा की जा सकती है तो कहो फिर साँवरी ने क्या बिगाड़ा है कि उसे बिलकुल भुला दिया जाय ।"

मैंने कहा—"ख़ैर बादलेयर की कविता तो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत करती है । उसका मन तो गोरी प्रेयसी की ओर था । जब इधर सफलता न हुई तो न केवल उसे गोरी से घृणा हो गई बल्कि गोरे रंग के मुकाबले में उसे नीग्रो प्रेयसी के काले रंग के प्रति भी उतना ही अधिक आकर्षण प्रतीत हुआ ।"

उसने पलट कर कहा—"और जहां तक हमारे देश का सम्बन्ध है, जहां न जाने कहां-कहां कितनी जातियों में रक्त का आदान-प्रदान हुआ होगा । जातियों का एक देश से दूसरे देश में आने-जाने का क्रम तो इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है । यहां जब आर्य आये तो जो जातियाँ यहाँ बसती थीं—और उनमें से कुछ तो आज भी आदिवासियों के रूप में विद्यमान हैं—उन सभी जातियों के लोग काले रंग के थे । आर्यों का गोरा रंग देख कर वे बहुत घबराये होंगे । ख़ैर, किस प्रकार आर्यों और यहाँ के आदिवासियों में संघर्ष हुआ होगा, यह गाथा यहाँ दुहराने से तो लाभ नहीं । हाँ, इतना तो स्पष्ट है कि आर्यों के यहाँ आने के पश्चात् भी शक, हूण, यवन, मुसलमान और अंग्रेज़ इस देश में आये और इन जातियों के अनेक सदस्य तो यहीं के होकर रह गये । अब मैं यह हिसाब लगाने तो नहीं बैठ सकता कि कहाँ-कहाँ रक्त का आदान-प्रदान हुआ और किस अनुपात से ।"

मैंने हंस कर कहा—"हुमायूं कबीर ने तो लिखा है कि बंगाल में ही

सबसे अधिक रक्त-मिश्रण हुआ है।"

उसने पलट कर उत्तर दिया—"इतना तो स्पष्ट है कि हमारे देश में गोरे और काले रंगों के बीच अनेक 'शेड' नज़र आते हैं। ध्यान से देखें तो एक-एक 'शेड' के बीच वही अन्तर है जो संगीत के सात स्वरों के बीच होता है।"

मेरी तो हँसी छूटने लगी। उसने भी कहकहा लगाया। सचमुच हम स्वयं भी नहीं जानते थे कि हमारी चर्चा यहाँ तक आ पहुँचेगी।

वह बोला—"साँवरा रंग भी गोरे और काले रंगों के बीच का एक 'शेड' है। और भई यह तो स्वतन्त्रता का युग है, साँवरे लोगों को भी आज जीने का उतना ही अधिकार होना चाहिए जितना गोरे लोगों का।"

मैंने कहा—"भई साँवरों पर तो कोई भला क्या प्रतिबन्ध लगा सकता है, मैं तो कहता हूँ एकदम काले लोगों को भी पूरा अधिकार मिलना चाहिए।"

उसने बात को आगे बढ़ाया—"दक्षिण भारत के लोगों में अधिक प्रतिभा होती है, क्योंकि उनका रंग काला होता है। अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि काले रंग का प्रतिभा के साथ अधिक सम्बन्ध है। और मैंने देखा भी है कि हमारे यहाँ की गोरे रंग की लड़कियाँ एम० ए० पास करने के बाद भी मूर्ख ही रहती हैं, और दक्षिण भारत की कोई लड़की मैट्रिक भी पास कर लेती है तो बात करते समय अपने प्रदेश की प्रतिभा का परिचय देने से नहीं चूकती।"

यहाँ मैं उससे सहमत न था। मैंने कहा—"यों किसी भी सिद्धान्त का सामान्यीकरण तो बहुत घातक सिद्ध हो सकता है। मूर्ख और बुद्धिमान तो सभी रंगों के लोगों में मिलेंगे। यह कहना कि काले रंग के लोग अधिक प्रतिभावान या बुद्धिमान होते हैं, आज के युग में अत्यन्त हास्यास्पद प्रतीत होता है।"

वह बोला—"खैर छोड़ो यह बात। मैंने तो यों ही मज़ाक में कह दिया था। हाँ, यह बात ज़रूर है कि कभी-कभी यह सिद्धान्त कि गोरी के मुकाबिले में साँवरी अधिक बुद्धिमान होती है, सत्य अवश्य नज़र आने लगता है। शायद यह इसलिए हो कि प्रकृति भी यह आवश्यक समझती है कि गोरी के सम्मुख साँवरी की क्षतिपूर्ति कर दे—एक प्रकार का 'कम्पन्सेशन'! एक सौन्दर्य में बढ़ी-चढ़ी है तो दूसरी को थोड़ी अधिक बुद्धि प्रदान करते हुए उसे इस योग्य बनाया कि पहली का मुकाबिला कर सके।"

मैंने कहा—"यहाँ तुम फिर रास्ते से भटक गये। क्योंकि गोरे रंग और सौन्दर्य को पर्यायवाची समझना तो बहुत बड़ी भूल होगी। तुम्हें शायद मालूम नहीं कि बनारस और मिर्ज़ापुर की कजलियों में 'साँवर गोरिया' शब्द का प्रयोग बहुत मिलता है।"

वह बोला—"इसमें विरोधाभास ही नहीं विरोध ही प्रतीत होता है, क्योंकि यह तो कोई भी झट पूछ सकता है कि जो गोरी है वह साँवरी कैसे हुई और जो साँवरी है उसे गोरी कहने का दुस्साहस कौन करेगा।"

मैंने कहा—"इन्हीं दिनों मैंने कहीं एक टिप्पणी पढ़ी है जिस में विद्वान लेखक ने यह युक्ति दी है कि यहाँ 'गोरी' का अर्थ 'सुन्दरी' है और इस प्रकार 'साँवर-गोरिया' का अर्थ हुआ 'साँवरी सुन्दरी'। साथ ही विद्वान लेखक ने यह युक्ति भी दी है कि 'साँवर' का अर्थ भी 'सुन्दरी' ही है। ईसा की सातवीं शती के अन्त और आठवीं शती के प्रारम्भ में कवि वाक्पति ने 'गउडवहो' काव्य की ६०१ संख्यक कविता में कहा था—

> इह हि हलिद्दा-हय-दविड-सामली-गण्ड-मण्डलानीलं।
> फलमस अलपरिणामावलम्बि अहिहरइ चूयाण॥

इसकी संस्कृत छाया भी सुन लीजिए—

> इह हि हरिद्रा-हत-द्रविड-श्यामली-गण्ड-मण्डलानीलम्
> फलमस कलपरिणामावलम्बि अभिहरति चूतानाम्॥

इस टिप्पणी में विद्वान लेखक ने यह भी बताया है कि उक्त काव्य के संस्कृत टीकाकार ने 'हय' का संस्कृत पर्याय 'विच्छुरित' और 'सामली' का 'सुन्दरी' दिया है। कवि ने अधपके आम का वर्णन करते हुए कहा है—वह द्रविड़ देश की सुन्दरी के हलदी-लगे कपोल जैसा है। लेखक महोदय ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि यदि 'सामली' अथवा 'श्यामली' का अर्थ साँवरी ही दिया जाय तो व्यर्थ होगा, क्योंकि वह तो 'द्रविड़' शब्द की व्यंजना है ही। इसलिए यहाँ इस शब्द का अर्थ सुन्दरी ही होना चाहिए। ब्रजभाषा की कविता में भी अनेक स्थलों पर 'गोरी' और 'साँवरी' दोनों सुन्दरी के पर्यायवाची हैं। कृष्ण साँवरे जो थे, बस कृष्ण-प्रेम की भक्ति-परम्परा के प्रभाव से साँवरा रंग भी प्रिय हो गया। इसीलिए तो पद्माकर कहता है—'साँवर पै चली साँवरी है के!' बंगला कविता में तो भक्त कवियों ने कृष्ण-प्रेम के कारण जाने किस-किस श्यामवर्ण वस्तु की प्रशंसा कर डाली है। इस टिप्पणी में यह भी कहा गया है कि 'साँवर-गोरिया' में सुन्दरी की पुनरुक्ति न मान कर द्विरुक्ति मानना अधिक उचित होगा। इस हिसाब से 'साँवर-गोरिया' का अर्थ हुआ 'अतीव सुन्दरी'। सच कहता हूँ, मेरे सम्मुख इस समय राजस्थान का लोकगीत सजीव हो उठा है—'गोरे मुख पर सोहे काली चूंदड़ी!' रवीन्द्रनाथ की कृष्णकली और बादलेयर की नीग्रो प्रेयसी भी मेरी कल्पना में एक साथ उभर रही हैं। यही नहीं, सातवीं-आठवीं शती ईस्वी के कवि वाक्पति की द्रविड़ सुन्दरी भी पीछे नहीं रही जिसके हलदी-रंगे कपोल अध-पके आमों जैसे हैं।''

वह बोला—''तुम्हारी यह आदत मुझे अच्छी नहीं लगती कि ख्वाह-म-ख्वाह इधर-उधर की बातों का हवाला देकर सुनने वाले को वश में करने का यत्न किया जाय। इस मामले में मेरी राय साफ है। सातवीं आठवीं शती ईस्वी का पुराना कवि वाकपति तो दूर रहा, फ्रांसीसी कवि बादलेयर या स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी आकर कहें कि 'साँवर-गोरिया' नाम की कोई

चीज़ हो सकती है तो मैं साफ शब्दों में कह सकता हूँ—कवि जी, आप ख़ामोश ही रहें तो अच्छा है, क्योंकि आप तो हमेशा स्वप्नलोक में ही विचरते हैं।"

इस के पश्चात् हम देर तक इधर-उधर की बातें करते रहे और जब मैंने एक बार फिर अवसर पाकर 'साँवर-गोरिया की चर्चा की तो मेरा मित्र, जो इस चर्चा से ऊब गया था, झुंझला कर कह उठा—"तुम्हारी इस लम्बी गाथा को तो एक ही वाक्य में समोया जा सकता है—क्या गोरी क्या साँवरी!"

यदि मेघाणीजी मिले होते

जिस जनपद को यात्री ने देखा न हो पर जहाँ जाने के लिए उसका हृदय अनेक बार उछल पड़ा हो, उस जनपद के काल्पनिक चित्र में पहले रेखाएं उभरती हैं, फिर उससे सम्बन्धित छोटी-से-छोटी बात भी इस चित्र में रंग भरने लगती है। ऐसा ही एक जनपद है काठियावाड़ जिसका सर्व-प्रथम परिचय मुझे आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती की जन्मभूमि के रूप में मिला। फिर जब महात्मा गाँधी राष्ट्रीय मंच पर प्रकट हुए, तो मेरा ध्यान काठियावाड़ की ओर पुनः आकर्षित हुआ। इसके पश्चात यह जनपद गुजराती लोकगीत के अन्वेषक और संग्रहकर्ता स्व० झवेरचन्द मेघाणी की जन्मभूमि के रूप में मेरे लिए चिर-स्मरणीय हो गया।

काठियावाड़ की सांस्कृतिक चेतना के लिए अकेले झवेरचन्द मेघाणी ने जो कुछ किया उस पर आनेवाली पीढ़ियाँ सदैव गर्व करेंगी। वस्तुतः मेघाणी-जी काठियावाड़ के प्रतीक बन गये थे। उन्होंने मौखिक परम्परागत शत-शत काठियावाड़ी लोकगीतों के संग्रह और अध्ययन द्वारा ही नहीं, बल्कि अपनी अनेक रचनाओं में काठियावाड़ का चित्र प्रस्तुत करते हुए एक महान्

अन्वेषक और कलाकार का दायित्व निभाया।

मेरा विचार था कि गुजरात देख लिया तो समझो कि काठियावाड़ भी देख लिया। पर अनेक मित्रों ने बताया कि बात ऐसी नहीं है, काठियावाड़ के निवासियों को देख कर मन पर पहली छाप यही पड़ती है कि वे बनिये नहीं, क्षत्रिय हैं। जहाँ गुजरात में ब्राह्मण भी बनिये नज़र आते हैं, वहाँ काठियावाड़ में बनिये भी देखने में शौर्यवान राजपूतों का स्मरण दिलाते हैं।

सन् १९३७ में, जब मैं बम्बई गया, कई बार ध्यान आया कि काठियावाड़ हो आऊँ। एक मित्र ने हँस कर कहा—"बस यह समझो कि सिन्ध का बनियापन और पंजाब की वीरता को मिला दें तो काठियावाड़ बन जायगा।"

मैंने पूछा—"यह कैसे हो सकता है? सिन्ध तो खैर काठियावाड़ से सटा हुआ है, पर पंजाब तो दूर है।"

उसने कहा—"विश्वास न आये तो कल ही काठियावाड़ का टिकट कटा लो।"

बम्बई में काठियावाड़ के लोगों से मैं अनेक बार मिला। काठियावाड़ी जीवन के अनेक फोटोग्राफ़ भी मैंने प्राप्त कर लिए। पर इससे भी वह कमी पूरी न हुई जो किसी जनपद को देख कर ही पूरी होती है।

फिर सन् १९४३ में हैदराबाद (सिन्ध) से रेल के रास्ते अहमदाबाद पहुँचा तो ख्याल आया कि पहले छोटी लाइन का टिकट कटा लूँ और काठियावाड़ देख आऊँ। पर मुझे शीघ्र बम्बई जाना पड़ा। सोचा अब सागर के रास्ते ही काठियावाड़ जाऊँगा।

बम्बई में इस बार श्री रामू भाई ठक्कर से भेंट हुई और काठियावाड़ की यात्रा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध गुजराती दैनिक 'जन्मभूमि' के संचालक और सम्पादक श्री अमृतलाल सेठ से परिचय हुआ। मेरी लोकगीत-यात्रा के सम्बन्ध में 'जन्मभूमि' में एक ऐसा लेख प्रकाशित हुआ जिसमें मेरे कार्य

की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई थी। इससे मैं वस्तुतः झेंप कर रह गया, क्योंकि मैं तो एक दिन अचानक मेघाणीजी के घर का द्वार खटखटाना चाहता था।

बम्बई के एक उपनगर में रामू भाई के पड़ोस में एक रात मुझे कुछ काठियावाड़ी रासधारियों का नृत्य देखने का अवसर प्राप्त हुआ। इसमें एक युवक ने स्त्री-वेश में नाचते हुए एक प्रेम-गान सुनाया जिसमें कोई युवती कहती है कि उसका प्रियतम गुलाब का फूल है और वह स्वयं चम्पा की कली है। रामू भाई के बहुत कहने पर भी मुझे विश्वास नहीं आ रहा था कि मंच की यह नर्तकी कोई स्त्री नहीं, बल्कि स्त्री-वेश में एक काठियावाड़ी युवक है। अगले दिन रामू भाई ने उस युवक को अपने घर पर बुलाकर मुझसे मिलाया।

"यदि ये रासधारी शीघ्र ही काठियावाड़ लौट रहे हों तो मैं इन्हीं के साथ काठियावाड़ चला जाऊँगा," मैंने हँस कर कहा।

"पर ये लोग तो अभी बम्बई के उपनगरों में ही नाच-गान की महफ़िलें जमायेंगे," रामू भाई ने वास्तविक स्थिति का परिचय देते हुए कहा।

रामू भाई की कन्या को संगीत और नृत्य में विशेष रुचि थी। गुलबदन—यही इस कन्या का नाम था।

गुलबदन न जाने क्या सोच कर कह उठी—"गुजरात में भी लोक-नृत्य देखने को मिलेगा, पर काठियावाड़ की दूसरी ही बात है।"

उस समय इस एक ही वाक्य ने मेरे मानस-पटल पर अंकित काठियावाड़ के चित्र में नया ही रंग भर दिया। गुलबदन खिलखिला कर हँस पड़ी। मुझे यों लगा जैसे चतुर्दिक् गुलाब के फूल खिल उठे हों।

रामू भाई बोले—"जहाँ तक गरबा नृत्य का सम्बन्ध है वह काठियावाड़ में ही शुद्ध रूप में देखने को मिलेगा।"

मैंने बहुत अनुरोध किया कि कुछ दिन की छुट्टी लेकर रामू भाई मेरे साथ काठियावाड़ चलें। जब से मुझे पता चल गया था कि मेघाणीजी से

उनका घनिष्ठ परिचय है, मैं यही चाहता था कि हम दोनों एक-साथ काठियावाड़ जा कर मेघाणीजी से मिलें।

मैंने वहुत यत्न किए कि रामू भाई किसी तरह मेरे साथ काठियावाड़ चलने के लिए तैयार हो जायं।

जो-जो लोकगीत मुझे याद आते गये, उनके स्पर्श से मैंने रामू भाई को खूब गुद-गुदाया। वे बीच में कह उठते—"ऐसा ही एक गीत काठियावाड़ में भी गाते हैं।"

मैंने रामू भाई के सम्मुख पंजाबी लोक-साहित्य में लघुगान की विशेष रूप से चर्चा की; 'माहिया' और 'ढोला' के नाम सुन कर तो एकदम उछल पड़े! मैंने बताया कि 'माहिया' माहिवाल का संक्षिप्त रूप है और अब इस शब्द का प्रयोग 'सोहणी' के प्रियतम 'महिवाल' के लिए न होकर 'प्रियतम' के अर्थ में व्यापक रूप में परिणत हो गया है, 'सोहणी-महिवाल' की प्रेम-गाथा तो पंजाब से सिंध के रास्ते काठियावाड़ में भी आ पहुँची थी और इसने काठियावाड़ी लोकगीत में स्थान प्राप्त कर लिया था, रामू भाई से यह जान कर मुझे आश्चर्य हुआ। फिर 'ढोला' की चर्चा करते हुए मैंने कहा कि इस शब्द का प्रयोग भी प्रियतम अर्थ में होता है। साथ ही मैंने यह भी बता दिया कि 'ढोला मारू' की कथा राजस्थान से सम्बन्ध रखती है। राज-स्थानी जनता को अभी तक शायद यह मालूम नहीं कि उनके लोकप्रिय गान का नायक 'ढोला' पंजाब में प्रियतम का व्यापक प्रतीक बन गया।

मैंने कहा—"माहिया की तो केवल तीन पंक्तियाँ होती हैं। जैसे—

काले काँ माहिया
बिछड़े सज्जनाँ दे
मुल्ख जाँदे ने नाँ, माहिया!

—'काले काग हैं
बिछड़े हुए प्रेमियों के

नाम भी भूल जाते हैं।'

ऐसे अनेक 'माहिया' गान रोज़ जन्म लेते हैं। बस यह समझिये कि जैसे टकसाल से ज़रा-से दबाव से ही सिक्का ढल कर बाहर आ जाता है, ऐसे ही भावना के साँचे में 'माहिया' ढलता है।

'माहिया' गान के स्वर रामू भाई और गुलबदन को बहुत पसन्द आये। 'माहिया' का स्वर-विस्तार उनके सम्मुख स्पष्ट करने में मैं सफल रहा। मैंने बताया कि जब टिकी हुई रात के समय गायक के कण्ठ से 'माहिया' की स्वर-लहरी प्रवाहित होती है तो चतुर्दिक् इस लघुगान का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। जैसे हवा के लिए अब और कोई काम न रह गया हो, जैसे 'माहिया' का सन्देश-वाहन ही उसका एक मात्र दायित्व हो।

मैंने रामू भाई को पंजाब के 'ढोला' गीत भी गा सुनाए—

बाजार बकेंदी बरफी
मैनू लैदे निक्की जिही चरखी
ते दुखां दीया पूणीयां
जीवें ढोला !
ढोल जानी !
साडी गली आवें तेंडी मेहरबानी !

—'बाज़ार में बरफी बिकती है
मुझे छोटी-सी चरखी ले दो
और दुःखों की पूनियां
जीते रहो, ढोला !
ओ ढोल ! ओ प्राणधन !
तुम हमारी गली में आओ तो तुम्हारी मेहरबानी हो !'

असमानों उत्तरी इल्ल वे
तेरा केहड़ी कुड़ी उत्ते दिल वे

सभ्भे ने कुआरियां
जीवें ढोला !
ढोल मक्खना !
दिल परदेसियां दा राज़ी रखना !

—'आकाश से चील उतरी
अरे तुम्हारा किस युवती पर दिल है ?
सभी कुंवारी हैं
जीते रहो, ढोला !
ओ ढोल ! ओ मक्खन !
परदेशियों का दिल राज़ी रखना !

असीं एथे ते ढोला छाओनी
एहनाँ अक्खीयाँ दी सड़क बनाओनी
चन्न माही आवना
जीवें ढोला !
अम्ब छलियां—
जित्थे खिलारिया ई उत्थे खलीआँ !

—'हम यहां हैं और ढोला छावनी में है
इन आँखों की सड़क बनानी है
चाँद-सा प्रियतम आयेगा
जीते रहो ढोला !
आम की फाँकें
जहाँ तुमने मुझे खड़ी होने को कहा, वहीं खड़ी हूँ !

आ ढोला इन्हाँ राहाँ ते
दीवा बाल रक्खाँ खनगाहाँ ते
तेरीयाँ मन्नताँ

जीवें ढोला !
मंजी बाण दी—
ढोले दीया 'रमज़ां' मैं सम्मे जाणदी—
—'आओ ढोला, इन रास्तों पर
मैं खानकाह[1] पर दीया जला रखती हूं
तेरी मनौती मानती हूं
जीते रहो, ढोला !
बान की बुनी हुई खाट है
ढोला के मर्म की बातें मैं समझती हूं !'

मैंने विस्तारपूर्वक ढोला के शब्दरूप और स्वर-ताल का 'माहिया' से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। रामू भाई और गुलबदन समझ गये कि ढोला गाते समय माहिया से अधिक स्वर-विस्तार का प्रयोग करना पड़ता है और इस गान का अन्तिम पद तो एक प्रकार से 'माहिया' का ही प्रतिरूप होता है। मैंने उन्हें यह भी बताया कि लायलपुर के जाँगली लोगों का 'ढोला' इससे भिन्न होता है और उसके स्वर-विस्तार की तो कुछ न पूछिये, क्योंकि उसे तो वही माई का लाल गा सकता है जिसके फेफड़ों में पूरा दम-खम हो, या यह कहिए कि 'जाँगली' लोगों का ढोला शुद्ध रूप में केवल 'जाँगली' ही गा सकते हैं।

गुलबदन के अनुरोध से मैंने 'जाँगली' लोगों का एक 'ढोला' भी प्रस्तुत कर दिया—

कन्नी बुन्दे सोहणे, सिर ते छल्ले सै मर्खा दे
उत्थे देवीं बाबला, जित्थे ढोलक वर्णा दे
यहाँ चढ़ कचावे, करां सैल झनां दे
हिकनां नूँ घर छड्ढ पहुते, पुन्ने हिकना दे

1 पीर की समाधि

झोली पये बाल थणां दे !

—'कानों में सुन्दर बालियाँ हैं, सिर पर सौ-सौ मन के केश,

हे पिता मेरा विवाह वहाँ करना जहाँ बड़ी-बड़ी टहनियों वाले 'वण' वृक्ष हों।

मैं ऊँट की काठी पर चढ़ बैठूँ, चनाव नदी की सैर करूँ।

किसी-किसी को वर प्राप्त होने का वचन मिल गया, किसी का वचन पूरा हो गया।

स्तन से दूध-पीते बालक उनकी झोली में आ गये।'

मैंने बताया कि 'जाँगली' लोगों का ढोला प्राय: बहुत लम्बा होता है। और यह ढोला जो मैंने प्रस्तुत किया है उसका छोटा-सा नमूना है, जो शायद अच्छा ढोला गाने वाले 'जाँगली' गायकों की दृष्टि में ढोला का एक बहाना मात्र है।

उस दिन मेरा पहले से कहीं अधिक आतिथ्य हुआ। मैंने सोच लिया कि रामू भाई मेरे साथ काठियावाड़ अवश्य चलेंगे। भोजन से निबटकर मैंने बुन्देलखण्ड के उस गीत की चर्चा की जिसमें एक युवती कहती है—

कौन रंग हीरा कौन रंग मोती
कौन रंग ननदी बिरना तुम्हार ?
लाल रंग हीरा पियर रंग मोती
साँवर रंग ननदी बिरना तुम्हार
फूट गये हिरवा बिथराय गये मोती
रिसाय गये ननदी बिरना तुम्हार
बीन लैहौं हीरा बटोर लैहौं मोती
मनाय लैहौं ननदी बिरना तुम्हार

—'किस रंग का हीरा है किस रंग का मोती ?
हे ननद, किस रंग के हैं तुम्हारे भैया ?

लाल रंग का हीरा है पीले रंग का मोती है
साँवरे रंग के हैं तुम्हारे भैया
हीरा फूट गया, मोती बिखर गये
हे ननदी, तुम्हारे भैया रूठ गये
हीरों को चुन लेंगे, मोती बटोर लेंगे
हे ननदी, तुम्हारे भैया को मना लेंगे ।'

गुलबदन ने कहा—"हीरा तो श्वेत होता है—यहाँ इस बुन्देलखण्डी कन्या से भूल हो गई ।"

रामू भाई उछलकर बोले—"गुजराती कन्या से भी भूल हो सकती है ।"

गुलबदन झेंप कर बोली—"और ऐसी ननद तो गुजरात-काठियावाड़ में भी घर-घर मिलेगी ।"

मुझे यह बात ज़ोर देकर कहनी पड़ी कि ऐसे अनेक स्थलों पर शत शत जनपदों की एक ही आवाज़ है ।

फिर मैंने कहा—"पर रामू भाई, इसका यह अर्थ तो नहीं कि मैं काठियावाड़ देखे बिना ही सोच लूँ कि जैसे और जनपद हैं वैसा ही एक काठियावाड़ भी है । अब आप मान जाइये मेरे साथ काठियावाड़ जाने की बात ।"

गुलबदन उठ कर नीचे जाने लगी तो कह उठी—"पिता जी, आप काठियावाड़ जायेंगे तो मैं भी ज़रूर चलूँगी ।"

मैंने कहा—"रामू भाई, देखिये अब इन्कार करने का अवसर नहीं । बम्बई बम्बई है, काठियावाड़ काठियावाड़ । मैं यह तो नहीं कहता कि बम्बई छोड़कर काठियावाड़ में जा रहिये, पर इसका यह अर्थ भी नहीं कि काठियावाड़ को एकदम भुला दिया जाय । कम-से-कम गुलबदन को एक बार तो अवश्य काठियावाड़ दिखाने ले चलिये । मैं भी समझूँगा कि लकड़ी के साथ लोहा भी तैरने लगता है ।"

देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं। अनेक भाषाओं के लोकगीतों की चर्चा चलती रही। मेरी यही कोशिश थी कि रामू भाई को किसी तरह जोश आ जाय और वे कह उठें कि सब गीत तराज़ू के एक पलड़े में रख दीजिये और दूसरे पलड़े में मैं मेघाणीजी द्वारा संग्रहीत काठियावाड़ी लोकगीत रख दूं तो समझ लीजिये कि मेघाणीजी वाला पलड़ा ही भारी रहेगा और साथ ही वे कह उठें कि चलो कल सवेरे ही मेघाणीजी से मिलने चलेंगे।

मैंने सचमुच एक मदारी की तरह अपने झोले से एक भोजपुरी 'बिरहा' निकालकर रामू भाई के सामने रख दिया—

अमवा के लागेला टकोरवा रे संगिया
गूलर फरे ले हड़फोर
गोरिया के उठेलाहा छाती के जोबनवां
पिया के खेलवना रे होइ

—'आमों के टिकोरे लग गये, ओ संगी!
गूलर भी हड्डियों को फोड़कर फल से लद गये हैं
गोरी के उरोज भी उभर आये
अरे ये तो प्रियतम के लिये खिलौने बनेंगे!'

रामू भाई ने प्रकृति और मानव-जीवन में प्रस्तुत की गई समानान्तरता की प्रशंसा की। मैंने उन्हें बताया कि अहीर ने एक कुशल कलाकार के समान बड़ी ज़ोरदार भाषा में गूलर के फल से लदने का चित्र अंकित किया है; क्योंकि सचमुच जब गूलर पर फल लगते हैं तो उसकी टहनियों पर ही नहीं, तने पर भी फल निकल आते हैं। इसे ही अहीर ने हड्डियाँ फोड़ कर फल निकलने की संज्ञा दी है। उरोज की चर्चा करते हुए भी वह ज़रा नहीं झिझका।

फिर मैंने बुन्देलखण्ड के एक लोकगीत में गोरी के उरोज की ओर संकेत किया; जिसमें कहा गया था—

गोरी के जोबना हुमकन लगे,
जैसे हिरनियों के सींग।
मूरख जाने खता फुनगुनू,
वे तो बाँट लगावे नीम।

—गोरी के उरोज उभरने लगे,
हिरनी के सींगों के समान।
मूर्ख उन्हें फोड़े-फुन्सी समझ रहा है
और वह नीम के पत्ते रगड़ कर लगा रहा है।

इसमें खासा व्यंग था जिस पर हम देर तक हँसते रहे। फिर एकदम रुक कर रामू भाई कह उठे—"यह मत समझो कि काठियावाड़ी गीत भोजपुरी और बुन्देलखण्डी गीतों से होड़ नहीं ले सकते, बल्कि यह कहिए कि काठियावाड़ में ऐसे-ऐसे गीत मिलेंगे जिनका दुनिया की किसी भी भाषा में जवाब नहीं।"

इतने में गुलबदन आ गई। उसने अपने पिता का संकेत पाकर उस गीत की कुछ पंक्तियाँ गुनगुनाईं जिनमें इस बात की चर्चा की गई थी कि अयोध्या में लौटने पर सीता को दोबारा वनवास क्यों दिया गया। सास ने सीता से अनुरोध किया कि वह लंका का चित्र खींच कर दिखाये, और जब सीता ने रावण का चित्र भी अंकित कर दिखाया तो वही चित्र राम के क्रोध का कारण बना। राम ने यह बात स्वीकार न की कि सीता अपने पति के शत्रु का चित्र अंकित करे। बस इसी बात पर क्रुद्ध होकर राम ने लक्ष्मण को आज्ञा दी कि वह सीता को वन में छोड़ आये।

एक काठियावाड़ी गीत की ये पंक्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय थीं—

वहू रे वहू मारी समरथ वहू
लंका लखी देखाडो
हूँ रे न जाणूँ मारी बाईजी रे

लंका केम लखाश्रो

—'बहू, ओ मेरी समर्थ बहू !
लंका का चित्र बना कर दिखाओ
मैं कुछ नहीं जानती, ओ मेरी बाई जी,
कि लंका का चित्र कैसे बनाया जाता है !'

मैंने रामू भाई को बताया कि सीता द्वारा रावण का चित्र अंकित करने की बात बुन्देलखण्डी और अवधी लोकगीतों में भी मिलती है। वे मन्त्रमुग्ध-से होकर मेरी ओर देखते रह गये। मैंने कहा—"सुनिए एक बुन्देलखण्डी गीत तो यों आरम्भ होता है—

आम अमलिया की नन्हीं-नन्हीं पतियाँ
निबिया की शीतल छाँह
वहि तरे बैइठीं ननद भौजाई
चालैं लागि रावन की बात।
तुम्हरे देश भउजी रावन बनत है
रावन उरेह दिखाव
तो मैं एतना उरैहौं बारी ननदी
जो घर करो न लबार

—'आम और इमली की नन्हीं-नन्हीं पत्तियाँ हैं
नीम की शीतल छाया है
उसी के नीचे बैठी हैं ननद भौजाई
रावण की बात चलने लगी—
हे भावज, तुम्हारे देश में रावण बनता है
रावण का चित्र खींच कर दिखाओ
चित्र तो मैं अवश्य खींचकर दिखाऊँ, बारी ननद !
यदि घर में तुम इसकी चर्चा न करो।'

लगे हाथ मैंने एक अवधी गीत के आरम्भ की कुछ पंक्तियाँ भी प्रस्तुत कर दीं—

ननद भौजाई दूनों पानी गईं अरे पानी गईं
भौजी जौन रवन तुहैं हरि लेइ ग उरेहि दिखावहु
जौ मैं रवना उरेहौं उरेहि दिखावउँ
सुनि पैहैं बिरन तुम्हार त देसवा निकरिहैं।

—'ननद और भावज दोनों पानी के लिए गईं, अरे पानी के लिए गईं
हे भावज! जो रावण तुम्हें हर ले गया था उसका चित्र खींच कर दिखाओ
यदि मैं रावण का चित्र खींच-खींच कर तुम्हें दिखाऊँ
तुम्हारे भैया सुन पायेंगे तो वे मुझे देश-निकाला दे देंगे!'

रावण के चित्र की इस चर्चा से वह काम हो गया जिसकी मुझे आशा थी। इस चित्र के कारण बेचारी सीता को तो देश निकाला मिला था, पर मुझे उससे हानि के स्थान पर लाभ ही प्राप्त हुआ। अर्थात् रामू भाई ने इस शर्त पर काठियावाड़ चलने के लिए स्वीकृति दे दी कि पहले मेघाणीजी को पत्र लिखकर यात्रा का कार्यक्रम निश्चित कर लिया जाय। उसी दिन उन्होंने मेघाणीजी को अलग पत्र लिखा, मैंने अलग।

मेघाणीजी ने मेरे पत्र का निम्नलिखित उत्तर लिख भेजा जिस पर मुझे सदैव गर्व रहेगा और साथ ही यह क्षोभ भी रहेगा कि वे उन दिनों अधिक व्यस्त थे—

रानपुर, काठियावाड़
७. ६. १९४३.

प्रिय सत्यार्थीजी,

आपका पत्र रामू भाई के पत्र के साथ मिला, पर इधर कई दिनों से अधिक व्यस्त रहने के कारण आपके पत्र का उत्तर यथाशीघ्र नहीं दे सका, इसके लिए क्षमा चाहता हूँ।

आपका पत्र और उसके द्वारा आपके मनोभाव पढ़कर अत्यन्त आनन्द हुआ। लोक-साहित्य और खास तौर पर लोकगीत के बारे में आपने जो काम किया है उसके विषय में 'माडर्न रिव्यू' में आपके लेख आते हैं, उन्हें पढ़ने में बड़ी प्रसन्नता होती है और कई बार आपसे मिलने की इच्छा होती है। लेकिन इस समय मैं इतना अधिक व्यग्र हूँ कि आपसे मिलने की इच्छा रहते हुए भी उसको कार्य में परिणत न कर सका।

आप इतनी दूर से गुजरात तक इतने नज़दीक आये, और आप यहाँ आना चाहते थे, लेकिन मेरी व्यग्रता वगैरह कारणों से इस बार हम लोग मिल न सके इसलिए मुझे दुःख हो रहा है। परन्तु जब आप यहाँ तक आयें और हम लोग शान्तिपूर्वक एक साथ बैठकर वार्तालाप भी न कर सकें, ऐसा हाल जब मेरा व्यग्रता के और दूसरे कई कारणों से हो, तब दूसरा चारा ही क्या हो सकता है? आप इस कारण मुझे क्षमा करें। यही प्रार्थना है।

आपने मेरा चित्र चाहा है। इस पत्र के साथ दो चित्र भेज रहा हूँ। पुस्तकों के लिए तलाश करवा रहा हूँ। मिल जाने पर यथाशीघ्र ज़रूर भेजूंगा। आपकी पुस्तकों के बारे में जानकारी प्राप्त कर आनन्द हुआ। मेरी कई पुस्तकें 'आउट आफ प्रिण्ट' रहने के कारण उनके नवीन संस्करण की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

कई बार आपकी रचनाएं पढ़कर मुझे होता है कि मैं या मेरे प्रिय विषय जो कि लोक-साहित्य है के लिए आपकी ही तरह खानाबदोश बन कर जगह-जगह घूमता फिरूँ, पर अनेक प्रकार के बन्धनों में फंसा हुआ मैं निकल ही नहीं पाता, और तब मालूम होता है कि एक बार पूरी ताकत लगा कर निकल जाने से ही निकला जा सकता है। लेकिन जब मैं आपकी तरह निकल ही नहीं सकता तब आप यह काम कर रहे हैं, इससे आश्वासन ले लेता हूँ कि मैंने नहीं तो आपने तो काम किया है—कर रहे हैं।

पुनः जब भी आप इस ओर गुजरात काठियावाड़ के निकट आयें, मुझे

पहले से ही लिखियेगा, जिससे हम लोग ज़रूर मिल सकें। आपसे मिलने पर मुझे बहुत प्रसन्नता होगी, और शायद हम आप एक दूसरे के वार्तालाप से जीवन के कुछ सुखद क्षणों को अपना बना लेंगे।

यह पत्र कलकत्ता वाले भतीजे रमणीक के हाथ से लिखवाया है। मैं शुद्ध हिन्दी लिख नहीं सकता, उससे क्षोभ होता है। यदि हम दोनों का मिलाप हो जाय, मेरी ख्वाहिश है कि सीना खोलकर बतलाऊँ लोक-साहित्य में मैंने क्या-क्या देखा और पाया ?

बार-बार क्षमा चाहता हूँ,

लि० स्नेहांकित

झवेरचन्द मेघाणी का स्नेहवन्दन।

यह पत्र मिलने पर रामू भाई ने यही परामर्श दिया कि निकट भविष्य में काठियावाड़-यात्रा का कार्यक्रम स्थगित कर देना चाहिए। हाँ, मेरे जी में आया कि मेघाणीजी को पत्र द्वारा तो यही सूचित करूं कि मैंने अभी काठियावाड़ आने का विचार छोड़ दिया है, पर अचानक उनके पास जा पहुँचूं। फिर सोचा कि यदि मेघाणीजी किसी गहन मानसिक उलझन में न फंसे होते तो निस्संकोच हमें आमन्त्रित करते।

कई वर्ष पश्चात् अचानक एक दिन यह समाचार मिला कि मेघाणीजी इस जगत् में नहीं रहे। मेरे हृदय पर गहरी चोट लगी।

यदि मेघाणीजी मिले होते तो वे बताते कि अभी तो उनका लोक-गीत-संग्रह सागर में एक बूंद के समान है। इसके उत्तर में शायद मुझे भी यही कहना पड़ता कि मैं भी अधिक लोकगीत नहीं जुटा पाया। फिर मैं उनसे कहता—क्यों न हम मिलकर निकल पड़ें, एक साथ खानाबदोश बनें। दूर-दूर के जनपद हमें बुला रहे हैं—हमारी बाट जोह रहे हैं!

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

आधी आयु पार कर जाने पर भी एकदम चिर युवा—इन्हीं शब्दों में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी का चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है। उनके शब्द अब भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं—"मेरा प्रत्येक जन्म-दिन मुझे पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली युवा बनाने को आता है" यह बात उन्होंने मुझ से उस समय कही थी, जब मैं बम्बई में उनके साथ उन्हीं के ड्राइंग रूम में बैठा था।

एक लेखक के रूप में मुन्शीजी की प्रतिभा गुजरात में एक सर्व-सिद्ध वस्तु बन चुकी है। उनका प्रभाव वर्तमान गुजराती साहित्य के सभी अंगों पर है, और इसे प्रथम कोटि के समालोचकों ने स्वीकार किया है। वे उपन्यासकार भी हैं और कहानी-लेखक भी; नाटककार भी हैं और निबन्ध-लेखक भी। इसके अतिरिक्त वे जीवनी-लेखक भी हैं, और 'अद्धे-रस्ते' में उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा आत्मकथा के प्रयोग भी किये हैं।

जब कोई किसी लेखक की कृति अनुवाद में पढ़ता है, वह वस्तुतः उस लेखक के मानस-चित्र और रूपक की वास्तविक निकटता का स्पर्श

नहीं कर सकता, या वर्जीनिया वुल्फ के कथनानुसार—"यदि हमें अनुवादक पर निर्भर करना है तो लेखक की वही अवस्था होगी जो भूकम्प या रेल-दुर्घटना के कारण किसी ऐसे व्यक्ति की हो जाती है जो अपने कपड़े-लत्तों से ही नहीं, अपने व्यवहार और चरित्र की विशिष्ट प्रकृति तक से वंचित हो जाता है।" मुझे यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि मैंने मुन्शीजी की रचनाएं गुजराती में नहीं पढ़ी हैं, यद्यपि मैं इस भाषा की ध्वनि से परिचित हूं और यह भी जानता हूं कि भारत के मानचित्र में इस भाषा को कितना महत्त्व प्राप्त है।

सन् १९३४ में, जब मुन्शीजी ने 'हंस' को नये पथ पर अग्रसर करने के लिये भारतीय साहित्य परिषद् के तत्त्वावधान में प्रेमचन्दजी का हाथ बँटाया तो मैंने सोचा कि द्वार खुल चुका है और एक महत्त्वपूर्ण आगन्तुक ने भीतर प्रवेश कर लिया है। यह भारत की राष्ट्रभाषा की बढ़ती हुई शक्ति का एक ज्वलन्त प्रमाण था। स्वयं मुन्शीजी ने मुझे उस कार्य में सहयोग देने के लिए आमंत्रित किया था और भारतीय लोकगीतों के सम्बन्ध में विशेष रूप से लिखने का अनुरोध किया था। बात यहीं तक न रही। उसी वर्ष मुन्शीजी की पुस्तक 'गुजरात और उसका साहित्य' की एक प्रति मिली जो उन्होंने जेल में लिखी थी। मुझे यह देखकर आह्लाद हुआ कि महात्मा गाँधी ने इस पुस्तक के आमुख में मेरी लोकगीत यात्रा का उल्लेख किया है।

सन् १९३६ में मुन्शीजी मुझे फ़ैज़पुर कांग्रेस के अवसर पर मिले और उन्होंने विशेष रूप से अनुरोध किया कि मैं बम्बई जाकर उनके यहाँ ठहरूं।

"क्या आप गाँधीजी से मिले हैं?" उन्होंने उस सम्पर्क-शृङ्खला का स्मरण दिलाते हुए पूछ लिया।

"एक बार से अधिक", मैंने मुस्कराकर उत्तर दिया। और उन्हें यह जान कर प्रसन्नता हुई कि मैं गाँधीजी के सम्मुख भारतीय ग्रामों में राष्ट्रीय

चेतना के विकास के साथ-साथ पुराने और नये लोकगीतों के सम्बन्ध में भी चर्चा कर चुका हूं।

"आप ग्रामों की ओर कब जा रहे हैं जिससे आप यह जान सकें कि वहाँ के निवासी क्या सोच रहे हैं, इस प्रकार आप उनके विचारों को अभिव्यक्त कर सकें?"— मैंने गाँधीजी के आमुख का उल्लेख करते हुए पूछ लिया।

"गाँधीजी ने ठीक ही तो कहा है कि इस देश के मध्यवर्ग के लोगों और जनता के बीच गहरी खाई नज़र आती है," मुन्शीजी ने स्वीकार किया, "और गांधी जी ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि जनता की भाषा को अभी निश्चित रूप मिलना शेष है। उनका यह कथन भी सत्य है कि भारत के अन्य प्रदेशों के समान गुजरात भी गम्भीर विचार में निमग्न है। भाषा अपना स्वरूप धारण करने में लगी है। लेखकों के लिए पर्याप्त काम पड़ा है......"

"गुजराती संस्कृति के सम्बन्ध में आप क्या कहना चाहेंगे?" मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

वे बोले—"मैंने 'गुजरात और उसका साहित्य' के अन्तिम अध्याय में अपने विचार प्रकट किये हैं। जैसा कि मैंने वहाँ कहा है, गुजरात-भारत से पृथक् अपना अस्तित्व नहीं बना सकता—नव-गुजरात का एक स्वप्न हमारे सम्मुख है—उस गुजरात का जो स्वतन्त्र, सुदृढ़ और सम्पन्न होगा, और जिसके निवासी नव-निर्माण में लगे होंगे। आर्य संस्कृति की प्रकृति यही रही है कि उसने प्रांतीय सीमाओं को कभी स्वीकार नहीं किया। उसने एकता के लिये संघर्ष किये हैं। आर्य संस्कृति जीवन की प्रयोगशाला का साधारण यन्त्रमात्र नहीं है। न वह केवल पाषाण-मात्र है जिसकी बनी हुई चक्की के दोनों पाटों से वैदिक ऋषि की माता अन्न पीसती थी। यह संस्कृति वह डोंगी भी नहीं है जिस पर राम और सीता सरयू नदी पार किया करते थे और न यह संस्कृति वह चरखा है जिसमें अनेक लोग अपनी प्रवृत्तियों को मूर्तिमान देखते हैं। सभ्यता ने अनेक रूप धारण किये हैं—वह दूसरों से

समय-समय पर उधार के रूप में ग्रहण की गई है। हमारे सामाजिक और धार्मिक विश्वास समय के साथ—प्रत्येक युग की सभ्यता के साथ सदा बदलते रहे हैं। हमें संस्कृति को अविच्छिन्नता और निरन्तरता के रूप में प्राप्त करना है, या फिर एकता की चेतना में। गुजरातियों की प्रत्येक पीढ़ी ने संस्कृति को अपने नवीन रूप में प्राप्त किया है।"

सन् १९३७ के आरम्भ में मैं बम्बई में मुन्शीजी के घर पर ठहरा। कोई तीन मास मैं वहीं रहा। वे चुनाव में व्यस्त थे, फिर भी वे कला और संस्कृति के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए समय निकाल ही लेते थे। उनकी पत्नी श्रीमती लीलावती, जो कहानी, एकांकी और रेखाचित्र लिखने में विख्यात् हैं, एक दिन अपने एक निबन्ध की चर्चा करते हुए कह उठीं कि आधुनिक युग का श्रीगणेश तब हुआ जब पुरुष ने स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्वीकार कर लिया। वे मेरी इस बात से सहमत थीं कि लोकगीतों में भी हम नारी का विद्रोह देख सकते हैं।

एक सन्ध्या को जब हम गुजरात के गरबा नृत्य की चर्चा कर रहे थे, हम सब गरबा के ताल पर नृत्य करने के लिये उठ खड़े हुए और स्वयं मुन्शीजी ने नेतृत्व किया। यह गुजराती संस्कृति की विजय थी। सारे परिवार ने एकस्वर होकर उत्सव का सा आनन्द मनाया।

फिर एक सन्ध्या को जब मैं रायल एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय से लौटा तो मुन्शीजी ने मुझसे कहा—यह सोचना भूल होगी कि गरबा नृत्य गुजरात तक ही सीमित है। इससे पहले भी एक अवसर पर उन्होंने शारंगधर से उद्धरण देकर यह सिद्ध किया था कि शिव-पत्नी पार्वती ने बाण की पुत्री उषा को 'लास्य' नृत्य की शिक्षा दी थी और उषा ने, सौराष्ट्र या गुजरात की स्त्रियों को इस कला में पारंगत किया। फिर मुन्शीजी ने अपनी विभिन्न प्रान्तों की यात्राओं की चर्चा करते हुए कहा—"मैंने अपनी आँखों से जो देखा उससे तो यही सिद्ध होता है कि उन दिनों असुर-कन्याएँ आन्ध्र,

तामिलनाड और केरल में भी पहुँची थीं और उन्होंने इन प्रदेशों की स्त्रियों को भी गुजरात के गरबा नृत्य से मिलता-जुलता नृत्य सिखा दिया था। हमारा दावा भ्रान्त विचार पर आधारित था। भारत की सामान्य संस्कृति के महासागर की तरंग जब हमारी सीमा में पहुँची तो हमने उसे अपना ही तालाब समझ लिया।"

"गुजरात के गरबा नृत्य में कविता को नृत्य के ताल की सहायता मिलती है," मुन्शीजी की सर्वस्पर्शी एकता की विचार-धारा से प्रभावित न होते हुए मैंने कहा, "मुझे भय है कि हम कहीं गरबा का अस्तित्व ही न खो बैठें। सांस्कृतिक एकता सत्य हो सकती है, पर विविधता के महत्व से भी कौन इन्कार कर सकता है।"

मुंशीजी अपने विचार पर दृढ़ थे। मैंने ज़ोर देकर कहा—"हमें तो किसी भी प्रांत के विशिष्ट कला-रूप के अविकलतम प्रभाव पर विचार करना होगा। उसका अध्ययन करते समय हमें इसकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गतिविधि पर ध्यान देना होगा, क्योंकि उसे तो विस्मृति के गर्भ में विलीन होने के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है।"

कई बार बंगाल के लोक-संगीत की बात छिड़ जाती। जब मैंने कहा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंगला लोकगीतों के स्वरों से बहुत प्रभावित हुए थे और स्वयं उन्होंने भी लोक-संगीत के स्वरों को प्रभावित किया था, मुन्शीजी ने भी इसे स्वीकार किया। मैंने ज़ोर देकर कहा—"बंगला लोक-संगीत की विशिष्टता यह है कि वह बंगभूमि की अनन्त घुमावदार रेखाओं में भावात्मक मूर्ति के रूप में प्रकट होता है, जहाँ क्षितिज भी लम्बे व्यवधान में लुप्त हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस संगीत में करुणा के स्वर ही अधिक हैं। वह मानव के भाग्य और आकांक्षा की गाथा सुनाता है।"

मुन्शीजी ने भारतीय लोकवार्ता के तुलनात्मक अध्ययन के विचार की प्रशंसा की। "जनता के इतिहास का सृजन केवल लोक-आकांक्षा, लोक-

पराक्रम और लोक-यंत्रणा के प्रकाश में ही किया जा सकता है," मैंने दृढ़ विश्वास के साथ कहा, "हमें लोक-कला और लोक-परम्परा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उनमें तो देवताओं को भी मानव के सम्मुख काँपते हुए प्रदर्शित किया गया है।"

मुझे स्मरण है कि मैंने गुजरात साहित्य-परिषद् के उस वार्षिक अधिवेशन में भाग लिया था जिसमें मुन्शीजी ने काठियावाड़ के वयोवृद्ध चारणों को आमंत्रित करने की विशेष व्यवस्था की थी। दो-दो चारण एक साथ उठ कर आमने-सामने खड़े होकर बारी-बारी से अपने-अपने चमत्कारपूर्ण दोहे गाते। एक बात और भी तो थी, दोहों के इस गान का न ओर था न छोर।

"आपको हमारे 'दोहे' कैसे लगे?" परिषद् से लौटने पर मुन्शीजी ने मुझसे पूछ लिया।

"दोहे तो अनेक प्रान्तों में एक-जैसे ही हैं," मैंने कहा, "और वे सर्वत्र विचार और शब्दों की संक्षिप्तता एवं सारगर्भिता के लिए विख्यात हैं।"

"इन दोहा-गायकों में एक का नाम है गोकुलदास रायचुरा, जिसने गुजराती लोक-कविता के ऐसे अनेक रत्नों को लिपिबद्ध कर दिखाया है," मुन्शीजी ने बड़े गर्व के साथ कहा।

शीघ्र ही मैंने रायचुरा से भेंट की और मुझे उनसे काठियावाड़ के दोहों का एक संग्रह भी प्राप्त हुआ। जब हम ड्राइंग-रूम में बैठे थे तो यह दोहा-संग्रह एक हाथ से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में जा रहा था। मुन्शीजी की ज्येष्ठ कन्या ने इन गुजराती दोहों में से कुछ की व्याख्या करते हुए बताया कि उनके रंग बहुत गहरे हैं।

"दोहों में मानव भावना का खूब प्रदर्शन हुआ है," मैंने बलपूर्वक कहा और मुन्शीजी भी मुझसे सहमत हुए।

मेरे लिए एक पृथक् कमरा था। पर ड्राइंग-रूम में प्रतिदिन नये-नये

आगन्तुकों से मेरी भेंट हो जाती थी। मुन्शीजी बहुत व्यस्त रहते थे, फिर भी वे किसी आगन्तुक से मिलने से इन्कार नहीं करते थे। वहाँ सभी कुछ उत्कृष्ट था। दोपहर और सन्ध्या के भोजन पर मैं नित्य नये आगन्तुक व्यक्तियों को देखता था। प्रतिदिन नये अतिथि भोजन में सम्मिलित होते थे। यह भी गुजराती संस्कृति की विजय थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो मुन्शीजी का काम अतिथियों के बिना चल ही नहीं सकता।

मालाबार हिल पर स्थित मुन्शीजी के निवासस्थान पर जीवन एक आवश्यक ताल का अनुसरण करता प्रतीत होता था। अन्य बातों की अपेक्षा उस पर कला की छाप अधिक थी। प्रत्येक ताल की लय में प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा नवीन राग में तरंगित होती थी।

: २ :

पाँच वर्ष तक मैं बम्बई से विलग रहा और सन् १९४३ में मोहेंजोदाड़ो की यात्रा से लौटते हुए मैं मुन्शीजी से फिर उनके मालाबार हिल स्थित निवास स्थान पर मिला। हमने एक साथ भोजन किया। श्रीमती लीलावती मुन्शी भी अपने पति के समान ही यौवन-सुलभ उत्साह से ओत-प्रोत थीं, यद्यपि समूचे परिवार में बहुत-कुछ परिवर्तन हो गया था।

मुझे बताया गया कि बड़ी कन्या का विवाह हो गया और अब वह अपने पति के साथ मालाबार हिल के किसी दूसरे भाग में रहने लगी है। मैं उससे भेंट करने गया। वह अपने विशिष्ट ढंग से मुझसे मिली। वह सचमुच अपने भाग्य पर गर्व कर सकती थी। एक महान् लेखक की पुत्री जो ठहरी। मुझे आश्चर्य हुआ कि एक कन्या दूसरी की अपेक्षा इतनी जल्दी कैसे बढ़ जाती है, क्योंकि मुन्शीजी के पड़ोस की दूसरी कन्या को भी मैं पहचानता था। वह बहुत लम्बी हो गई थी। उसे देखकर मुझे मोहेंजोदाड़ो म्यूजियम की नर्तकी की मूर्ति का स्मरण हो आया। मैं इस बात को मुन्शीजी से भी कहना चाहता था, पर मैं उनके सामने इसकी चर्चा करने में संकोच

कर गया।

मैं मैडम सोफिया वाडिया से भी मिला, जो भारतीय पी० ई० एन० की संस्थापिका हैं। मुझे वह दिन याद आ गया जब पिछली बार मुन्शीजी ने मैडम वाडिया से मेरा परिचय कराया था।

इस संस्था का सदस्य होने के नाते मुझे उसमें 'ग्रामीण भारत के गान' पर व्याख्यान देने का निमंत्रण मिला जिसे मैंने तत्काल स्वीकार कर लिया।

"पिछली बार तो आपके पी० ई० एन० के व्याख्यान में सरोजिनी नायडू ने अध्यक्ष का पद ग्रहण किया था," मैडम वाडिया ने कहा, "इस बार आप किसकी अध्यक्षता पसन्द करेंगे?"

"क्या हम इसके लिए मुन्शीजी को कष्ट दे सकते हैं?" मैंने तुरन्त पूछा।

"क्यों नहीं?" मैडम वाडिया ने मुस्कराकर कहा, "मैं स्वयं उनसे कहूँगी।"

बात आगे बढ़ी। १६ अप्रैल को रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा में व्याख्यान की बात निश्चित हो गई।

"भारत के साधारण इतिहास हमें सम्राटों और उनकी विजयों, युद्धों और रक्तपातों की गाथा सुनाते हैं," मैंने अपने भाषण में कहा था, "पर भारत का वास्तविक इतिहास ग्रामीण भारत के उन गीतों में निहित है जो यह बताते हैं कि शताब्दियों से लोग कैसा जीवन व्यतीत करते आये हैं। उन्हीं के ताल पर भारत-माता का हृदय स्पन्दित होता है। उन्हीं में वह अपना हृदय हमारे सामने खोलती है। भगवान्, बादल, धरती माता, जीवन, जन्म-मरण के चक्र, प्रेम, चाह और शोक, मानव के सामाजिक सम्बन्ध आदि के अनन्त प्रकार—वास्तव में मानव प्रकृति के सभी स्थायी तत्त्व सहज आकर्षण के साथ मानव भावनाओं के प्रतीक बन जाते हैं, चाहे ये गीत काश्मीर के हों या केरल के, इनमें सास और बहू का सम्बन्ध और पति के वियोग में

पत्नी की विरह-भावना आदि विषयों की चर्चा अनेक प्रकार से की गई है।"

जब मैंने गुजरात का एक गीत सुनाया तो मुड़कर देखा कि मुन्शीजी के मुख-मण्डल पर उनकी विशिष्ट मुस्कान दौड़ गई है। वह मुस्कान व्यंग-सूचक नहीं थी, क्योंकि मुझे इस गीत की ठीक-ठीक लय का ज्ञान था। उसके पश्चात् मैंने राजस्थान का एक गीत सुनाया। मैं यह बात सरलतापूर्वक सिद्ध कर सका कि अनेक प्रकार के सूक्ष्म हेर-फेर होते हुए भी गुजराती और राजस्थानी गीतों का विषय और विवरण एक-जैसा था। फिर मैंने कहा कि यही बात भारत के विभिन्न भागों के अधिकांश गीतों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यद्यपि प्रायः स्थानीय प्रभावों का अन्तर उनमें दिखाई दे जाता है, पर उनके विषय और भाव में एक सारपूर्ण एकता उनके विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है और इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि भारतीय जीवन और संस्कृति में मौलिक एकता है।

"यदि कविता सम्पूर्ण हृदय की अभिव्यक्ति है," मैंने आगे चलकर कहा था, "तो लोकगीतों के तो मूल ही में काव्य है। मेरे यह पूछने पर कि वह कविता क्यों बनाता है, एक किसान ने यह उत्तर दिया था कि जब गान उसके हृदय में भर जाता है तो उसे उसी प्रकार उसे प्रकट करना होता है जिस प्रकार जल से भरे बादलों के लिए बरसना अनिवार्य हो जाता है। पर लोकगीत का प्राण है उनका संगीत। छपे हुए पृष्ठ पर संगीत उसी प्रकार नीरस और निर्जीव है, जैसे वनस्पति-शास्त्री की मेज़ पर सूखी पत्तियाँ। संगीत और ताल तो आवश्यक हैं। इसीलिए लोकगीत-संग्रह-कर्त्ताओं को गीतों की मौलिक लयों और स्वरों को पकड़ना होता है: केवल शब्दों को ही नहीं। लोकनृत्य लोकगीतों के साथ ही चलते हैं। मैं जानता हूं कि हमारे लोगों में कुछ की दृष्टि में लोकगीत अछूतों के समान हैं; वे उन्हें पास नहीं फटकने देना चाहते। प्राचीन भारतीय संस्कृति की इन सुन्दर सजीव वृत्तियों के सजीव आधारों का संकलन कोई महत्त्वशून्य कार्य नहीं है।"

तालियों ही तालियों के बीच मुन्शीजी उठे। अपने भाषण के अन्तिम भाग में उन्होंने कहा कि लोक-विचार सर्वत्र एक-जैसे ही हैं; भाषाएं भले ही भिन्न हों; पर सारे संसार में लोकगीत एक-सदृश ही हैं।

"मैं भाषणकर्त्ता महोदय के इस विचार से असहमत हूँ कि लोकगीतों के साथ अछूतों का-सा व्यवहार कियसा जाता है," मुन्शीजी ने कहा, "इसके विपरीत उनसे बहुत-सी आधुनिक काव्य-रचनाओं को प्रेरणा प्राप्त हुई है, गुजरात में गरबा नृत्य ने वस्तुत: राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त कर लिया है। तो भी मैं यह कहूँगा कि निरन्तर आर्थिक कष्टों के दबाव से ग्रामों की सुन्दरता और सरलता के स्थान पर दुर्भाग्यपूर्ण और दुःखान्त भविष्य घर करता जा रहा है। मैं उस समय की आशा लगाये हुये हूँ जब ग्रामीण फिर अपना वास्तविक रूप प्राप्त कर लेंगे।"

जब कभी मैं अपने अन्तरतम में दृष्टि डालता हूँ तो मित्रों की स्मृति नक्षत्र के समान जगमगाती नज़र आती है। पर उनमें से प्रत्येक का चित्र बाह्य जगत् को नहीं दिखाया जा सकता। कोई तो स्मरणीय रूप के लिए याद किया जा सकता है और कोई शिष्टतम व्यवहार और उच्चारण के लिए; कोई हमें लगभग समानता का-सा व्यवहार करने के कारण प्रिय लगता है तो कोई व्यक्ति ऐसा भी हो सकता है कि उसकी बात सुनकर हम आँखें उठाते हुए यह समझते हैं कि जैसे वह सर्वप्रथम अपना परिचय देने जा रहा हो। कबीलों और राष्ट्रों के समान ही व्यक्ति भी अपना रहस्य सरलता-पूर्वक प्रकट नहीं करते। ऐसी अवस्था में हम आवश्यक रूप में बहुत समय तक एक-दूसरे से अपरिचित ही बने रहते हैं।

पर मुन्शीजी का चित्र अन्य शत-शत चित्रों के साथ मिश्रित नहीं किया जा सकता। यह स्पष्ट है कि मैं उन्हें आंशिक रूप में ही जानता हूँ, फिर भी मैंने उनमें जो कुछ वास्तव में पाया है उसका मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है। मैंने उन्हें तब देखा जब मेरे स्वप्न देखने के दिन थे। उनमें

सबसे बड़ी बात यह है कि वे सांस्कृतिक एकता को प्रकाश प्रदान कर सकते हैं। जीवन के समान संस्कृति भी एक होनी चाहिए, यह बात वे ज़ोर देकर कहते हैं। वे यह विश्वास दिलायेंगे कि चित्र की पूर्ति के लिए रंगों को परस्पर एक-दूसरे को सहायता देनी होगी। इसके उत्तर में शायद हमें कहना होगा कि वाक्य पूरा करने के लिए शब्दों में भी एकता स्थापित करनी पड़ती है, और मुन्शीजी यह सुनकर आलिंगन करने के लिए बाँहें फैला देंगे।

इस बात का निर्णय तो मैं आलोचक पर छोड़ता हूँ कि सन् १९१३ में जब मुन्शीजी अपना पहला उपन्यास 'वेरनी वसूलात' लेकर गुजराती पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुए तो उन्हें अपने स्वागत के सम्बन्ध में भय था। उस उपन्यास को मुन्शीजी ने 'घनश्याम' के उपनाम से प्रकाशित कराया था। पर इससे तो मुझे अपने मित्र के महत्वपूर्ण चित्र को और भी समीप से देखने का अवसर मिलता है, क्योंकि यद्यपि कृष्ण को 'घनश्याम' कहने की छूट सबको प्राप्त है; पर उसका अर्थ 'श्यामघन' भी हो सकता है जो वृष्टि करने की क्षमता रखते हैं, और मुन्शीजी गुजरात के साहित्यिक-क्षेत्र को अधिकतर उर्वर बनाने में सफल हुए हैं। उसी वर्ष मुन्शीजी एक साथ उपन्यासकार और वकील के रूप में जनता के सामने आये। मैं जानता हूँ कि न्यायालयों में उन्होंने सैकड़ों अभियोगों में विजय प्राप्त की है, पर मेरा तो उनके लेखक-जीवन से सम्बन्ध है। सन् १९३० में वे कांग्रेसी बने और उन्होंने जेल-जीवन का भी दो वर्ष का अनुभव प्राप्त किया। सन् १९३७ में वे बम्बई में क़ानून और शासन-व्यवस्था के मंत्री भी बने। एक और अवसर पर उन्होंने 'अखण्ड भारत' [illegible] न्यूनाधिक रूप में उनके सांस्कृतिक एकता [illegible] हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का सभापति पद भी मुन्शीजी ने ग्रहण किया। आड़े समय में वे हैदराबाद में भारत सरकार के एजेण्ट-जनरल रहे, अब वे भारत

सरकार के कृषि एवं खाद्य मंत्री हैं। पर मुन्शीजी की वास्तविक विजय तो गुजराती साहित्य के उत्थान में है।

मैं चाहता हूँ कि मेरा अभिवादन उनको उनके जन्म-दिवस के अवसर पर मिले, जब महिलाएं और भद्रजन उनके व्यक्तित्व पर विचार कर रहे हों। मुझे विश्वास है कि मेरा स्वर मेरे मित्र तक पहुँच सकेगा। जब मैं अपने अन्तर्तम को देखता हूं तो आशा के साथ आनन्द का मिलन हो जाता है, और मन के कला-भवन में स्थित कलाकार उस चित्र पर तूलिका के सबल स्पर्श देता है। मुझे यह भय नहीं है कि यह चित्र अधूरा रहेगा अथवा यह अन्य चित्रकारों की कला से भिन्न होगा, क्योंकि हम एक ही व्यक्ति को विभिन्न दृष्टिस्थलों से देखते हैं। रेखाओं के अनेक घुमाओं से चित्र में प्राणों का संचार होता है, पर यह उसी समय सम्भव है जब एक-एक रेखा स्वयं बोलने लगे। हाँ, तो एक रेखा उभर कर सामने आती है और कहती है—

'मुझे भी देखो न, याद नहीं वे दिन ?'

'कौन से दिन की बात कह रही हो रेखा ?'

रेखा को सब याद है। वह चुप रहती है। पर जैसे संकेत से ही सब समझा देगी। 'अरे हाँ, रेखा, याद आ गई वह बात जिसका तुम ध्यान दिला रही हो। २६ जनवरी १६४८ का दिन था न। गांधीजी की हत्या से एक दिन पूर्व।'

'हाँ, हाँ, बिलकुल ठीक'—रेखा अपनी मूक मुद्रा से कह उठती है।

'तो लो सुनो, रेखा, मैं ही कहे देता हूँ। उस दिन सवेरे बिड़ला-भवन में मुन्शीजी से भेंट हुई तो वे बोले—इतने बड़े भवन में मैं ही मेज़बान हूँ। गांधीजी तो यहाँ बस एक मेहमान हैं। सचमुच बिड़लाजी की अनुपस्थिति में मुझे ही मेज़बान का दायित्व निभाना होता है!'

'वह कैसे ?' सबने पूछ लिया।

'तो सुनो,' वे बोले, 'एक गुजराती लोककथा है—'

'कहिये, कहिये ।'

'एक था सेठ । उसके थे दो बेटे । सेठ ने दोनों बेटों को उपदेश दिया कि तुम दुनिया भर में अपनी कोठियाँ बनाओ । अब एक लड़का तो सचमुच जगह-जगह कोठियाँ बनाने लगा । आखिर कहाँ तक कोठियाँ बनाता ? वह थक गया । उसका मन भी जवाब दे गया । दूसरा लड़का अधिक बुद्धिमान् था । उसने कोठियाँ बनाने की बजाय जगह-जगह मित्र बनाने आरम्भ किये । इसमें वह ज़रा भी नहीं थका, और अपने भाई से बहुत आगे निकल गया, क्योंकि मित्रों की कोठियों के द्वार उसके लिये सदा खुले रहते थे ।'

मुझे याद है कि मैंने उछलकर कहा था—'तो यह कहिए कि आपने गुजराती लोक-कथा को सच कर दिखाया है ।'

मुन्शीजी की आँखें चमक उठीं ; पर वे अगले ही क्षण कह उठे—'सोचता हूँ अलग निवास का प्रबन्ध करूं, और आप-जैसे मित्रों का अधिक सत्कार कर सकूँ । रोज़-रोज़ की मेहमानी से भी तो आदमी तंग आ जाता है ।'

मैंने हँसकर कहा—'मेहमान तो गाँधीजी हैं । आप तो मेज़बान हैं ।'

फिर जब अगले ही दिन गाँधीजी की हत्या कर दी गई, तो मुझे मुन्शीजी के शब्द रह-रहकर याद आने लगे—इतने बड़े भवन में मैं ही मेज़बान हूँ, गाँधीजी तो यहाँ बस एक मेहमान हैं !

रेखाएँ तो बहुत हैं, पर इस एक रेखा की बात ही आज अधिक जँचती है । यह रेखा मूक-मूक-सी मेरी ओर देख रही है । कुछ तो बोल, रेखा ! तू यही कहना चाहती है न कि जिसके चित्र में तुझे स्थान मिला है वह भविष्यद्रष्टा भी है ।

जहां दो साहित्य मिलते हैं

एक निबन्ध में पंजाबी भाषा के विद्वान प्रोफेसर तेजासिंह ने यह सिद्ध किया है कि वेद पंजाबी में लिखे गये थे। यह विचार प्रस्तुत करते हुए इस विद्वान ने यह दलील दी थी कि वेदों की रचना पंजाब में हुई थी और उस समय पंजाब में जो भाषा बोली जाती थी, उसी में वेदों की रचना की गई थी। कोई भले ही उसे देववाणी या संस्कृत कहे, पर उसे पंजाबी ही कहना चाहिये, क्योंकि वह पंजाब की भाषा थी। मैं इस मत के समर्थकों में नहीं हूँ; पर जहाँ तक पंजाबी भाषा की वंश-परम्परा का सम्बन्ध है, उससे इतना तो स्पष्ट है कि जिस अपभ्रंश से पंजाबी की विभिन्न बोलियों का जन्म हुआ, उसकी जननी संस्कृत ही थी। इससे यह पता चलता है कि संस्कृत के साथ आज की पंजाबी का पुराना सम्बन्ध है। उसी संस्कृत के अपभ्रंश से आज की हिन्दी ने जन्म लिया है। इस दृष्टि से पंजाबी और हिन्दी बहनें हैं और यह स्वाभाविक ही जान पड़ता है कि दोनों में आदान-प्रदान होता रहा होगा।

आदान-प्रदान पर सदैव गर्व किया जाना चाहिये; क्योंकि इससे विशेष

रूप से सामाजिक और सांस्कृतिक उत्थान में बहुत सहायता मिलती है। जिस प्रकार दो पड़ोसी एक-दूसरे से बहुत कुछ सीख सकते हैं, उसी प्रकार दो भाषायें भी जिनके सीमान्त एक-दूसरे से सटे हुए हों, जाने-अनजाने एक-दूसरे की अच्छाई-बुराई के प्रभाव से बच नहीं सकतीं। जब भाषाओं की यह अवस्था हो तो इन भाषाओं के साहित्य के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि यदि उनके साहित्यकारों के हृदय और मस्तिष्क संकुचित नहीं हो गये हैं तो निस्संदेह वे एक-दूसरे को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकते। इस प्रकार दो भाषाओं में और इन भाषाओं के साहित्य में आदान-प्रदान का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

आरम्भिक पंजाबी कविता पर उस युग की हिन्दी कविता का प्रभाव स्पष्ट नज़र आता है। गुरु नानक की भक्ति रस से ओत-प्रोत कविता अनेक स्थलों पर आज की पंजाबी से कहीं अधिक उस युग की हिन्दी कविता के समीप है। इसका एक कारण यह भी है कि गुरु नानक ने देश-देश की यात्रा की थी और उन्होंने विशेष रूप से उसी भाषा को अपनी कविता का माध्यम बनाया जो अन्तर्प्रान्तीय महत्त्व रखती थी। एक स्थल पर गुरु नानक कहते हैं—

> **बलिहारी गुरु आपणे दिउहाड़ी सदवार।**
> **जिन मानस ते देवते किये करत ना लागी वार॥**
> **जे सौ चन्दा उगवहि सूरज चढ़हि हजार।**
> **ऐते चानण होंदियाँ गुर बिन घोर अंधार॥**
> **नानक गुर न चेतनी मन आपने सुचेत।**
> **छुटे तिल बुआड़ जिउँ सुंजे अन्दर खेत॥**
> **खेते अन्दर छुट्टियां कहु नानक सहुनाह।**
> **फलि अहि फुलि अहि बपुड़े भी तन विचि सुआह॥**

यह बात ज़ोर देकर कही जा सकती है कि जिन हिन्दी-भाषी लोगों के

लिए आज की पंजाबी एकदम अपरिचित प्रतीत होती है, वे भी गुरु नानक की कविता का रस आस्वादन कर सकते हैं।

'गुरु ग्रंथ' में संकलित अन्य कवियों की अनेक कवितायें भी भाषा की दृष्टि से हिन्दी के बहुत समीप हैं। पग-पग पर हिन्दी शब्दों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है जैसे शब्दों ने बस ज़रा-सा वेश बदल लिया हो। उस युग की अन्तर्प्रांतीय एकता का प्रतीक ही तो है 'गुरु ग्रन्थ'। सिख धर्म के अंतिम गुरु तो पंजाबी से कहीं अधिक हिन्दी के विद्वान थे। उनकी रचनाओं की भाषा हिन्दी है।

खैर, यह तो बहुत पुरानी बात है। पंजाबी और हिन्दी के आदान-प्रदान का वास्तविक लेखा-जोखा तो आधुनिक युग को सामने रखते हुए ही किया जाना चाहिये। बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ होते ही पंजाब में शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत होता चला गया। शिक्षा के साथ-साथ राष्ट्रीयता की भावना भी सिर उठाने लगी। राष्ट्रीयता की भावना कोई अलग वस्तु हो, यह बात नहीं थी। हिन्दी-भाषी क्षेत्र में जिस राष्ट्रीयता की धूम थी उसी ने पंजाबी-भाषी क्षेत्र को भी छू लिया था। राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ साहित्यिक प्रगति भी आवश्यक समझी गई। पंजाब में उर्दू को सरकार की ओर से अपनाया गया। इससे पंजाबी दब गई हो, यह बात नहीं। बल्कि सच पूछो तो इससे पंजाबी अधिक वेग से प्रगति-पथ पर अग्रसर हुई और राष्ट्रीयता की भावना, जो हिन्दी में मुक्त रूप से बह रही थी, पंजाबी साहित्य की प्रगति में भी सहायक हुई। यह स्वाभाविक ही था कि उर्दू के सरकारी भाषा बनने के फलस्वरूप आधुनिक पंजाबी साहित्य पर उर्दू का अधिक प्रभाव पड़े। इसका एक कारण यह भी था कि कई शताब्दियों तक पंजाबी भाषा में अनेक अरबी-फारसी शब्द खपते चले गये थे। पर यह बात भी उतनी ही सत्य है कि अरबी-फारसी शब्दों की भरमार के बावजूद पंजाबी भाषा की संस्कृत-निष्ठ परम्परा बराबर बनी रही। आधुनिक पंजाबी

साहित्यिकों में ऐसे लोग भी थे जो आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति से परिचित और प्रभावित थे। ऐसे लोग भी थे जो यह समझते थे कि उर्दू ने सरकारी भाषा के रूप में पंजाबी के अधिकारों पर छापा मारा है। वे उर्दू से कुछ इतने जले-भुने रहते थे कि फारसी-अरबी के शब्दों को पंजाबी साहित्य में स्थान देने का प्रश्न ही नहीं उठता था। उनका भी यही मत था कि आसान हिन्दी शब्दों को ही स्थान देना चाहिये जिससे पंजाबी की मूल रूपरेखा अधिक से अधिक पुष्ट होती चली जाय।

पंजाबी-भाषी कुछ साहित्यिकों ने जिस प्रकार पंजाबी में न लिख कर उर्दू में लिखा, उसी प्रकार उनमें कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जिन्होंने हिन्दी को अपना माध्यम बनाया। हिन्दी में लिखते समय भी वे पंजाबी को न भूल सके। पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी को ही लीजिये, जिन्होंने सन् १९१५ में 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी लिखकर हिन्दी के अनेक साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित किया। इस कहानी में पंजाबी संस्कृति की स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत की गई है।

"बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गये हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बंबूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें।" यह है, उसने कहा था की उठान जो हमें सतर्क कर देती है और हम अमृतसरी बंबूकार्ट वालों की बोली सुनने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। 'उसने कहा था' का लेखक अमृतसरी बम्बूकार्ट वालों का चरित्र-चित्रण करता है—

"जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चींथ कर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं, और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार

बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग चक्करदार गलियों में, हर एक लड्डी वाले के लिए ठहर कर सब्र का समुद्र उमड़ा कर 'बचो खालसा जी !' 'हटो भाई जी !' 'ठहरना भाई !' 'आने दो लालाजी !' 'हटो बाछा !'— कहते हुए, सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तखों, गन्ने और खोमचे, और भाड़वालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चुनौती देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने—"हट जा जीणे जोगिये; हट जा करमां वालिये; हट जा पुत्तां प्यारिये; बच जा लम्बी वालिये।" समष्टि में इनके अर्थ हैं कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों की प्यारी है, लम्बी उम्र तेरे सामने है। तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है ?—बच जा।

'उसने कहा था' का लेखक पंजाबी के मुहावरे ही हिन्दी को भेंट नहीं करता, बल्कि वह एक पंजाबी लोक-गीत भी प्रस्तुत करता है—जहाँ सुदूर समरभूमि की एक खन्दक में वजीरासिंह त्योरी चढ़ाकर कहता है—"क्या मरने-मारने की बात लगाई है ?" और गाना शुरू कर देता है—

दिल्ली शहर तें पिशौर नूँ जांदिए,
कर लैणा लौंगां दा बपार मड़िए;
कर लैणा नाड़े दा सौदा अड़िए।
ओए लाणा चटका कदुए नूँ।
कद्दू बणाया वे मजेदार गोरिये।
हुण लाणा चटका कदुए नूँ॥

लेखक ने इस पंजाबी लोक-गीत का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया है—'अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जाने वाली, लौंगों का व्यापार कर ले। और इज़ारबन्द का सौदा कर ले। जीभ चटचटा कर कद्दू खाना है।

गोरी ! कद्दू मज़ेदार बना है । अब चटखटाकर उसे खाना है ।' इस गीत के सम्बन्ध में लेखक ने यहाँ तक लिख दिया है—'कौन जानता था कि दाढ़ियों वाले, घरबारी सिख लुच्चों ऐसा गीत गायेंगे, पर सारी खंदक इस गीत से गूंज उठी, और सिपाही फिर ताज़े हो गये । मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों ।

'उसने कहा था' का लेखक सिपाहियों की वीरता का यों बखान करता है—

'अचानक आवाज़ आई 'वाह गुरु जी की फतह....वाह गुरुजी का खालसा !! और धड़ाधड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे । ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच आ गये । पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसा रहे थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे । पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया ।

एक किलकारी और—'अकाल सिक्खां दी फौज आई ! वाह गुरु जी दी फतह ! वाह गुरु जी दा खालसा ! सत श्री अकाल पुरुख !!!' और लड़ाई खत्म हो गई ।

हिन्दी में उपर्युक्त शब्दावली गुलेरी जी ने ही पंजाबी से लेकर हिन्दी को दी और आज वह हिन्दी का अंग बन गई है । मंगनी के लिए है पंजाबी शब्द कुड़माई, 'उसने कहा था' के लेखक ने शायद पहली बार हिन्दी जगत को 'कुड़माई' शब्द से परिचित कराने का यत्न किया है । ओढ़नी के लिए पंजाबी शब्द है 'सालू' । सालू का प्रयोग भी लेखक ने बड़े गर्व से किया है । गधे के लिए पंजाबी शब्द है 'खोता' । यह शब्द भी इस कहानी में मिल जायगा । ससुर का पंजाबी शब्द है 'सौहरा' । इस शब्द का प्रयोग किस प्रकार गाली देते समय किया जाता है—इसकी चर्चा भी इस कहानी में मिलेगी । खाट के लिए पंजाबी शब्द है 'मंजा' । इसे भी भुलाया नहीं

गया। स्त्री के लिए पंजाबी शब्द है 'तीमी'। यह भी इस कहानी में मौजूद है। जांघ को पंजाबी में 'पट्ट' कहते हैं, यह भी बता दिया गया है। इस प्रकार 'उसने कहा था' कहानी पंजाबी और हिन्दी के आदान-प्रदान का प्रतीक है। जब भी इन दोनों भाषाओं के साहित्यिक सम्बन्ध का इतिहास लिखा जायगा, 'उसने कहा था' का महत्त्व और भी बढ़ जायगा।

आधुनिक पंजाबी साहित्य ने हिन्दी से कम प्रेरणा नहीं ली। कविता में ही नहीं, कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में अनेक स्थलों पर प्रेमचन्द का रंग झलक उठता है। और तो और, बहुत से लेखक जिनकी मातृ-भाषा पंजाबी है, आज हिन्दी के प्रथम श्रेणी के लेखकों में गिने जाते हैं। इन पंजाबी-भाषी साहित्यिकों ने हिन्दी माध्यम को अपनाने पर भी पंजाबी का सिर नीचा नहीं होने दिया, क्योंकि उन्होंने हिन्दी में लिखते हुए भी पंजाबी रंग को छोड़ा नहीं है। इस रंग को छोड़ सकना उनके लिए संभव भी नहीं था।

चम्बा के पथ पर

चित्रकार

जगदीश मित्तल

चम्बा याद रहेगा

चम्बा में आ कर देखा कि रावी ठीक उस युवती की तरह है जिसका अभी विवाह न हुआ हो और जो अभी मायके ही में खेल रही हो। लाहौर में तो रावी एक चिर-पुरातन माता मालूम होती है—गृहस्थी के बन्धनों में जकड़ी हुई, जो या तो गंभीर रहती है या बुरी तरह क्रोध में आ जाती है।

एक नव-परिचित मित्र ने बताया कि चम्बा के एक पुराने लोकगीत में कोई विरहिणी कहती है—'मेरा प्रियतम परदेश में है, रावी! और तू उछल-उछल कर, नाच-नाच कर बहती है वर्षा ऋतु में। एक विरहिन की पीड़ा को तू क्या जाने? नारी के नाते ही सही, मेरा प्रियतम आय तो उसे झट रास्ता दे देना, रावी!' पर यत्न करने पर भी इस गीत के मूल शब्द प्राप्त न हो सके। रावी अपनी अल्हड़ कुँवारी चाल से बह रही थी। उसे न किसी विरहिणी की चिन्ता थी और न उसके प्रियतम की।

चम्बा का पहाड़ी सौन्दर्य जितना मनमोहक था, यहाँ का बाज़ार उतना ही भद्दा था। यहाँ का चौगान—घास का यह आध मील लम्बा और कोई अस्सी गज़ चौड़ा मैदान—जितना खुला था, प्रत्येक दुकानदार का दिल

शायद उतना ही तंग था। न किसी दुकान का सिर न पैर। हर चीज़ अपने भाग्य पर रुदन कर रही थी। कम कीमतों पर ग्राहक हाथ नहीं बढ़ाता। न जाने किसने इन लोगों को दुकानदार बना दिया था? लोच तो इनकी आवाज़ में नाम को न था। संगीत की अपेक्षा शायद उन्हें भूतों की कहानियाँ ही अधिक भाती थीं। किसी-किसी का दिल तो सदा के लिए बुझ चुका था—सहसा 'फ्यूज़' हो जाने वाले बिजली के बल्ब की तरह!

सौभाग्य से एक विद्यार्थी से भेंट हो गई जो लाहौर तक हो आया था। भूरीसिंह संग्रहालय से लौट कर हम चौगान में बैठ गये। इसके उत्तरी सिरे पर चम्बा के हस्पताल ने एक चित्र सा अंकित कर रखा था। पूर्व की ओर हाज़िरी बाग था, जिससे थोड़ा हट कर बाज़ार शुरू हो जाता है। हम चौगान के पश्चिमी सिरे पर बैठे थे, जहाँ से इसकी आधी लम्बाई तक रावी का दृश्य सामने था। चौगान गेट भी कुछ कम सुन्दर न था जिसके समीप ही डाक घर और तारघर खड़े थे। आगे फिर दुकानों की कतार शुरू हो जाती थी जो कोतवाली तक चली गई थी। इसी कोतवाली से सटा हुआ भूरीसिंह संग्रहालय है। वहाँ से लौटते हुए मैंने एक बार फिर यहाँ के तंगदिल दुकानदारों और खुले चौगान की विषमता का अनुभव किया।

चौगान की घास को दाहिने हाथ से सहलाते हुए चम्बा का विद्यार्थी बोला—"यदि मैं कहूँ कि यह वही स्थान है जहाँ लार्ड और लेडी कर्ज़न आ कर बैठे थे, जब वे चम्बा में सन् १६०० में पधारे थे, तो आप आश्चर्य मत कीजिये। यह सत्य है। मेरे दादा साक्षी हैं। उन्होंने स्वयं उन्हें इसी स्थान पर बैठे देखा था।"

उस समय मैं भी चौगान की घास को सहलाने लगा। सचमुच मैं घास की पत्तियों से कहना चाहता था—सुना तुम ने? चम्बा का विद्यार्थी सच ही तो कह रहा होगा।

वह फिर बोला—"मेरे दादा यहाँ बैठ कर प्रायः वह दोहा दोहराया

करते हैं—

चम्पा तुझमें तीन गुण, सुन्दर सुखद सुवास।
अवगुण तुझमें एक है, भ्रमर न आवे पास॥

चम्पा के फूल इधर बहुत खिलते हैं। यथा नाम, तथा गुण। न जाने क्यों मेरे दादा इतना भी नहीं समझ पाते कि चम्पा पर कोई भ्रमर आये या न आये, चम्बा को यात्रियों की कमी नहीं है। एक दिन हिन्दुस्तान का वाइसराय अपनी पत्नी सहित यहाँ चला आया था, तो आज एक खानाबदोश इधर आ निकला है।"

"खूब खूब," मैंने कहा, "भई, यह तुमने एक ही कही।"

चम्बा राज्य का आयताकार नकशा मेरे हाथ में था। उत्तरी सीमा दक्षिणी सीमा की अपेक्षा कुछ सिकुड़ी हुई-सी थी। दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व तक इसकी अधिक से अधिक लम्बाई सत्तर मील थी और दक्षिण-पूर्व से उत्तर पश्चिम तक अधिक से अधिक चौड़ाई पचास मील। व्यास की घाटी का एक भाग, कुछ भाग रावी की घाटी का जो खास चम्बा की घाटी कहलाती थी और चन्द्रभागा की घाटी का कुछ हिस्सा जिसमें पांगी और चम्बा लायल सम्मिलित थे—यह था चम्बा राज्य।

विद्यार्थी ने मेरा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए कहा—"तीन हज़ार फीट से इक्तालीस हज़ार फीट तक उठते गये हैं हमारे पर्वत, हालांकि आबादी दस हज़ार फीट तक ही मिलती है।"

बहुत देर तक चम्बा के इतिहास की चर्चा चलती रही। पता चला कि यह हिन्दुस्तान के प्राचीनतर राज्यों में से था। सन ६०० से पहले ही इसकी नींव रखी जा चुकी थी। आरम्भ में कोई चार सौ वर्ष तक ब्रह्मौर राजधानी थी, जो चम्बा के दक्षिण-पूर्व में अड़तालीस मील पर स्थित है। राजा साहिलवर्मा के समय में चम्बा नगर की नींव रखी गई और राजधानी उठ कर यहाँ चली आई। साहिलवर्मा की राजकुमारी चम्पावती को यह स्थान

बहुत प्रिय था और उसी के नाम पर इस नगर का नाम रखा गया ।

चम्बा के मन्दिर बहुत पुराने हैं । जितने पुराने हैं उतने ही सुन्दर । स्वयं साहिलवर्मा ने चम्बा में सबसे पहले चम्पावती या चमसनी मन्दिर बनवाया था । एक दन्तकथा है कि चम्पावती के विचार बहुत धार्मिक थे और वह सत्संग के लिए एक साधु के आश्रम में जाया करती थी । राजा को सन्देह हो गया और वह तलवार म्यान से निकालकर उसके पीछे-पीछे गया । पर आश्रम में पहुँच कर देखा कि न राजकुमारी है न साधु । आवाज़ आई— राजन् तेरा सन्देह निर्मूल है । चम्पावती निर्दोष है । अब उसने मुक्ति प्राप्त कर ली और वह चम्बा की देवी बन गई । उसके नाम पर राजा ने अपने कोष से अनगिनत मुहरें खर्च करके एक मन्दिर बनवाया । तब से चम्पावती इस राज्य की सबसे बड़ी देवी मानी जाती है ।

एक और दन्तकथा में चम्पावती की माता को सती के रूप में प्रस्तुत किया गया है । कहते हैं कि चम्बा में राजधानी चली तो आई पर पीने के पानी का बड़ा कष्ट था । राजा साहिलवर्मा ने श्रोत नदी से पानी लाने की योजना बनाई । और शीघ्र ही एक नहर तैयार की गई जो नगर के ऊपर से उस पहाड़ी के गिर्द घूमती हुई आई थी जिसे अब शाह मदार कहते हैं । पर इस नहर में पानी प्रवेश ही नहीं करता था । पंडितों ने कहा कि श्रोत नदी की देवी रुष्ट है और उसे प्रसन्न किये बिना नहर में पानी का प्रवेश असम्भव है। पंडितों ने यह भी बताया कि स्वयं रानी या राजकुमार की बलि दिये बिना यह कार्य सम्पन्न नहीं होगा । कुछ लोगों का विचार है कि राजा को स्वप्न में स्वयं श्रोत नदी की देवी ने दर्शन दिये और कहा कि अपने पुत्र का बलिदान दो । इसके पश्चात् जब रानी को मालूम हुआ तो उसने पुत्र की बजाय अपना बलिदान दिये जाने पर ज़ोर दिया । राजा चाहता था कि न राजकुमार की बलि दी जाय और न रानी की, बल्कि किसी तीसरे व्यक्ति की बलि देकर देखा जाय कि देवी किसी तरह प्रसन्न हो जाती है या नहीं ।

आखिर रानी का आग्रह सफल रहा। अपनी दासियों सहित रानी नंगे सिर ऊपर पहाड़ी पर बलोत गांव के समीप पहुँची जहाँ से यह नहर निकाली गई थी। दन्तकथा कहती है कि रानी को वहाँ जीवित ही पृथ्वी में गाड़ दिया गया और पानी झट नहर की ओर बढ़ आया। इसके पश्चात् श्रोत नदी की देवी कभी रुष्ट नहीं हुई और आज तक चम्बा-निवासी उसी नदी का पानी पीते आये हैं।

"उस रानी का नाम क्या था?" मैंने पूछा।

"नयना देवी," वह बोला, "अब हमारे यहाँ नयना देवी का मन्दिर भी मौजूद है।"

अब हम नयना देवी का मन्दिर देखने के लिए चल पड़े। रास्ता बहुत सी सीढ़ियों से होता हुआ ऊपर चढ़ता गया। और जहां ये सीढ़ियां समाप्त होती थीं, एक छोटा-सा मन्दिर खड़ा था।

विद्यार्थी कह रहा था—"इसे स्वयं राजा साहिलवर्मा ने बनवाया था और अब यहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है। चैत्र की अमावस्या से यह मेला आरम्भ होता है और चैत्र पूर्णिमा को समाप्त हो जाता है। फिर वैशाख की प्रतिपदा से आरम्भ होकर इक्कीस दिन तक नीचे चम्पावती के मंदिर में मेला लगता है। चम्बा भर के लोग इन मेलों पर यहाँ आते हैं और अपने मन में नयनादेवी और चम्पावती की स्मृति को फिर से ताज़ा कर लेते हैं। आप भी कभी उन दिनों इधर आइये और इन दोनों मेलों को देखिये।"

मैंने कहा—"भला यह तो बताओ कि नयना देवी का मन्दिर यहाँ क्यों बनाया गया?"

"यह वही स्थान है जहाँ रानी ने बलिदान के लिए जाते समय आराम किया था," उसने बड़े विश्वास के साथ कहा।

मैंने सोचा कि अवश्य आराम किया होगा, क्योंकि हम स्वयं भी तो सीढ़ियां चढ़ते-चढ़ते थक गये थे। पता चला कि उन दिनों यह सीढ़ियां भी

नहीं थीं। विद्यार्थी ने यह भी बताया कि नयना देवी का मेला सूही मेला कहलाता है और इस पर स्त्रियाँ और बालक ही अधिक जमा होते हैं। नये से नये वस्त्र, नये से नये रंग। हर कोई फूल चढ़ाता है और रानी की महिमा के गीत गाता है। राजघराने की ओर से सब का सत्कार आवश्यक है। यह भी पता चला कि सूही मेले की तिथियों में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ सकती। यहाँ तक कि यदि किसी मेले के अवसर पर राजघराने में किसी की मृत्यु हो जाय तो और सब मेले बन्द कर दिये जाते हैं, पर सूही मेला नहीं रुक सकता।

"चम्बा राज्य में केवल एक ही तो नगर है," मैंने कहा, "भला कुल गांव कितने होंगे?"

"साढ़े सोलह सौ से अधिक," अपने मस्तिष्क पर ज़ोर डालते हुए वह बोला, "यह सब गाँव कोई तीन दर्जन परगनों में बंटे हुए हैं। चम्बा नगर में तो छः हज़ार से अधिक जनसंख्या नहीं मिलेगी, जब कि हमारी कुल जन-संख्या डेढ़ लाख से कुछ ही कम होगी। राज्य का प्रबन्ध पाँच वज़ारतों या ज़िलों में बंटा हुआ है—पांगी, चम्बा, चुराह, भट्टयाट और ब्रह्मौर।"

"तुमने तो चम्बा का चप्पा-चप्पा देखा होगा?" मैंने पूछा।

"जी हाँ," वह बोला, "और अब आप के साथ चलूंगा, जहाँ भी आप ले चलें।"

"बहुत खूब!" मैंने उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा।

पूर्व की ओर मुंह किये डलहौज़ी से चम्बा तक उन्नीस मील की यात्रा मैंने अकेले ही की थी और डलहौज़ी और चम्बा के बीच खजयार झील के तेरह फुट गहरे पानी में अपना प्रतिबिम्ब देखते समय भी मैं अकेला था। यहाँ तक कि वहाँ के प्राचीन देवता खजीनाग का पुजारी भी मन्दिर में उपस्थित न मिला। पर अब मेरा मित्र प्रकाश में लहराते अयाल के समान मेरे समीप था और हम दुनिया भर की बातें ले बैठते थे। उसकी आँखों को

देख कर मुझे उन दोनों फ़ाख्ताओं की याद आ जाती जो मुझे देखते ही खजयार की झील के किनारे से उड़ कर इस झील के तैरते द्वीप पर जा बैठी थीं। पहाड़ियों के बदलते हुए दृश्यों में हमारी आँखें खुभखुभ जाती थीं।

पांगी की सड़क उतराइयों-चढ़ाइयों के चक्कर काटती हुई ऊपर को उठती जाती थी। किनारों पर रंग-रंग के फूलों की चादरें बिछी हुई थीं। ये फूल देख कर मेरी आत्मा से जन्म-जन्म का बोझ-सा उतरता जाता था। साच की ऊँची बरफ़ानी घाटी आने से पहले ही मेरे मित्र ने बता दिया था कि इसे पूर्ण निस्तब्धता में पार करना होगा, नहीं तो यदि कुँवारी बर्फ़ों की देवी भगवती रुष्ट हो जाय तो ऊपर से बर्फ़ की चट्टान गिरेगी और हम बर्फ़ की कब्र में सदा की नींद सो जायँगे।

कुंवारी बर्फ़ों का वह दृश्य मुझे कभी न भूलेगा। चम्बा का पुराना लोक-गीत याद आ गया, जिसमें एक स्त्री किसी अफ़सर से यह प्रार्थना करती है कि उसके पति की बदली पांगी में न की जाय क्योंकि न उसके पास चप्पल हैं न जूते, नंगे पैर वह कैसे बरफ़ानी घाटी को पार करेगा।

जाड़े में पांगी अपने बर्फ के किवाड़ बन्द कर लेती है और बाकी दुनिया से उसका सम्बन्ध टूट कर रह जाता है। चन्द्रभागा को देख कर मैंने कहा—अब बहती जा शौक से, चन्द्रभागा! आगे पंजाब में न जाने कितनी हीरें और कितनी सोहनियां तुझे अपनी प्रणय-गाथायें सुनाने को तैयार मिलेंगी और वहां तेरा नाम भी बदल जायगा, चन्द्रभागा!

पांगी में हमें कई दिन लग गये। पग-पग पर पांगी हमारा स्वागत करती प्रतीत होती थी।

पांगी से लौट कर हमने गद्देरन की सैर की। ब्रह्मौर विज़ारत ही को गद्देरन कहते हैं, क्योंकि इधर गद्दी लोग बहुत हैं। गद्दी स्त्रियों की मुखमुद्रा देख कर मुझे कई बार कांगड़ा कलम का ध्यान आ जाता। चम्बा और कांगड़ा की संस्कृति एक-सी है। ये सब कलाकार इन्हीं स्त्रियों के लाल ही

तो थे।

प्रतिवर्ष नवम्बर में बर्फ़ गिरने से पहले ही गद्दी लोग अपनी भेड़-बकरियों समेत चम्बा की घाटी में उतर आते हैं या धौलधार की बरफ़ानी घाटियों के उस पार कांगड़ा की ओर निकल जाते हैं और अप्रैल या मई में बर्फ़ों के पिघल जाने पर अपनी जन्मभूमि को लौट जाते हैं।

नोखी गद्दिन का गीत हर गद्दी को याद है। नोखी अपने समय की अपूर्व सुन्दरी थी और कांगड़ा के राजा संसारचन्द ने उसे बलपूर्वक अपनी रानी बना लिया था। शायद संसारचन्द को जहाँगीर से भी अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा होगा, क्योंकि नोखी गद्दिन अपने गद्दी को भूलती ही न थी और नूरजहाँ की तरह वह विधवा भी न थी।

गद्देरन के पश्चात् हम रावी के निकास की ओर चल दिये पर रास्ते ही से लौट आये।

चम्बा का वह मिंजरां का मेला कितना विचित्र था। 'मिंजर' उस रेशमी फुंदने का नाम है जिसे चम्बा नरेश से लेकर छोटे से छोटा आदमी अपनी पोशाक में कहीं न कहीं टांक लेता है। अनेक शताब्दियों से इस मेले में दूर-दूर के लोग एकत्रित होते आये हैं। श्रावण के तीसरे रविवार के दिन चम्बा नरेश अपने मंत्रियों सहित मेले में आते हैं। राज्य की ओर से रावी की भेंट किया जानेवाला भैंसा पहले ही से वहां तैयार रहता है। जैसे ही महाराज श्रद्धापूर्वक अपने हाथों से एक नारियल, एक रुपया, दूब और पुष्प का उपहार रावी की भेंट करते हैं, वैसे ही भैंसे को पानी में धकेल दिया जाता है। सब यही चाहते हैं कि यह भैंसा रावी की जलधारा में बह जाय या डूब जाय। और यदि वह बच कर दूसरे किनारे पर जा निकले तो हर कोई यही समझता है कि इधर के लोगों का पाप उस पार जा लगा। पर यदि किसी प्रकार यह भैंसा इसी किनारे पर आ निकले तो सब सहम जाते हैं, क्योंकि राजा और प्रजा के लिए इससे बड़ा अशकुन और कोई नहीं हो सकता। इस अवस्था में

राज्य की ओर से अगले वर्ष तक इस भैंसे का पालन-पोषण किया जाता है ताकि उसे फिर से रावी की भेंट किया जाय। यह मेला कदाचित् युग-युग से चली आई धरती-पूजा का प्रतीक है, या फिर सूर्य-पूजा का आयोजन। क्योंकि सदा से रविवार को ही यह मेला लगता आया है।

नाचती-गाती भीड़ रावी के किनारे से हिलने का नाम न लेती थी। भैंसा रावी में बह गया था। लोग खुश थे कि अब खूब वर्षा होगी। धन-धान्य की कमी न रहेगी। राजा और प्रजा आनन्द से रहेंगे। कला के उच्च शिखरों को चूमता हुआ लोक-नृत्य बार-बार मदिरा के नशे में खो जाता। जैसे आज इस प्रदेश के प्रत्येक वन, पर्वत और नदी के देवी-देवता भी इस लोक-नृत्य में सम्मिलित हो गये हों, जिन्हें ये लोग शताब्दियों से पूजते आये थे। जैसे जाति-पाँति का भेदभाव भी उठ गया हो। अब न किसी गद्दी को क्षत्रिय होने का गर्व था, न किसी कोली, हाली, सीपी या चमार को अछूत होने के कारण किसी प्रकार की हीनता का अनुभव होता था। डोमना, बखाला, मेघ, दरई, रेहार, सरार, लोहार, भटवाल और धौगरी—ये सब लोग अब अछूत न थे, बल्कि राठियों, राजपूतों और ब्राह्मणों के भाईबन्द थे। भद्दौर की भद्दौरी, भटियाट की भटियाली, चुराह की चुराही, पांगी की पंगवाली—यह सभी बोलियां मिंजरां के मेले में चम्बा घाटी की चम्बाली या चमियाली बोली से गले मिल रही थीं। सभी पर पंजाबी रंग प्रत्यक्ष था। चम्बा लाहल की लाहली भी चमियाली से हाथ मिला रही थी। यह लोकनृत्य का नशा था। लोक-संगीत का नशा था।

चमियाली भाषा का मचलता-मटकता लोकगीत वातावरण में गूंज रहा था—

चम्बे दीये धारा गज गज पाला,
छड्ड के न जाईं अलबेलुआ हो!

अर्थात् चम्बा की पहाड़ियों में गज-गज पाला पड़ता है। मुझे छोड़ कर

न जाना, ओ अलबेले साजन !

मेरे मित्र ने कहा—"जैसे नाफ़े में कस्तूरी जन्म लेती है अपनी स्वाभाविक महक के साथ, या जैसे अखरोट में गिरी पैदा होती है, वैसे ही लोक-गीत की सीपी में कविता का मोती जन्म लेता है।"

मैंने मुस्करा कर उसकी चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति की प्रशंसा की। जाड़े का यह 'गज़-गज़' पाला कोई आज की वस्तु न था। चम्बा की पहाड़ियाँ इसे जानती थीं इससे परिचित था स्वयं चम्बा नगर भी, जो केवल तीन हज़ार फीट की ऊँचाई पर बसा हुआ है, और जहां जाड़े में कई बार बर्फ़ पड़ती है। और इन लोगों के अन्ध-विश्वास पर गर्व करती हुई, उनके स्वप्नों पर रीझती हुई अल्हड़ कुंवारी रावी बह रही थी।

ठक्कर बापा

ठक्कर बापा से मेरी सर्वप्रथम भेंट उस समय हुई जब वे अड़सठ वर्ष के थे। बम्बई से लौटते समय मैं यों ही दोहद के स्टेशन पर उतर पड़ा था। सोचा लगे हाथों 'भील सेवा मण्डल' देखता चलूँ। मेरी लालसा तो बस इतनी ही थी कि कुछ भील लोकगीत और मिल जायँ। समय कम था। सोचने पर भी मैं यह फैसला न कर सका कि भील प्रदेश में जा सकूंगा। मन ने कहा—ये 'भील सेवा मण्डल' वाले क्या एक भी ऐसा भील लोकगीत नहीं जानते होंगे जो मेरे लिये नया हो? बस यही सोच कर मैं अप्रैल १६३७ के आरंभ में दोहद के स्टेशन पर उतर पड़ा था।

मण्डल में जाने पर पता चला कि ठक्कर बापा आ रहे हैं। मैं रुक गया। बस अगले सवेरे ठक्कर बापा आ गये। आते ही उन्होंने अकाल की चर्चा छेड़ दी। मैं मन ही मन थोड़ा लज्जित अवश्य हुआ। भील प्रदेश में अकाल पड़ गया है यह मैंने सुना अवश्य था। पर मुझे अकाल पीड़ितों की सेवा का भूल कर भी ध्यान नहीं आया था। उस समय मैं मन ही मन में अपनी साहित्यिक प्रवृत्ति को कोसने लगा—कोई मरे चाहे जिए, मुझे बस लोकगीत

चाहिएं ! यह तो अन्याय है । यदि गाने वाले ही मर गये तो उनके गीत भी कैसे जीवित रह सकते हैं ?

बापा ने प्रस्ताव रखा कि मैं भी उनके साथ भील प्रदेश के दौरे पर अवश्य चलूं । नहीं कहने का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था । आज सोचता हूँ कि यदि मैं उन दिनों दोहद के स्टेशन पर न उतरा होता तो मैं न केवल एक महान् व्यक्ति के निकट सम्पर्क से वंचित रह जाता, बल्कि मैं भील जीवन की वास्तविक पृष्ठभूमि को समझने के लिये एक विशेष अध्ययन से भी बिलकुल कोरा रह जाता ।

मैंने बापा की आँखों में झाँक कर देखा । यह अनुभव होते देर न लगी कि ये एक घुमक्कड़ की आँखें हैं । जब एक घुमक्कड़ दूसरे घुमक्कड़ से मिलता है, उसका दिल उछलने लगता है । मैंने देखा कि इस अड़सठ वर्ष के वयोवृद्ध व्यक्ति के चेहरे की झुरियां भी अनेक यात्राओं की कथा सुना रही हैं । बापा ने स्वयं बताया कि यात्रा से उनका मन कभी नहीं ऊबता और वे तो चाहते हैं कि जब भी उनके जीवन का अन्त हो वे एक यात्री के रूप में इस विशाल वसुंधरा के किसी पथ पर अग्रसर हो रहे हों ।

मैंने हँस कर कहा—"अभी से जीवन के अन्त की बात मत सोचिए, बापा !"

वे बोले—"चलती का नाम गाड़ी है ! हाँ, तो गाड़ी तभी तक गाड़ी है जब तक पहिए चल रहे हों। मेरे दो पैर ही मेरे दो पहिए हैं । मैं बस इतना ही तो चाहता हूं न कि ये पहिये चलते रहें !"

मैंने हँस कर कहा—"मैं भी सोचता हूं मेरे दोनों कंधे पंखों का रूप धारण कर लें और मैं बस उड़ कर जहाँ चाहूं चला जाया करूँ ।"

मैंने बापा को यूरोप के खानाबदोश कबीलों में प्रचलित एक लोक-कथा सुना डाली । खानाबदोशों का ख्याल है कि आरम्भ में उनके पंख हुआ करते थे । एक बार उड़ते-उड़ते एक पके खेत में उतर पड़े। उन्होंने इतना

खाया कि वे उड़ न सके। वे उस रात वहीं रह गये। पका हुआ खेत उन्हें हर रोज़ निमन्त्रण देता कि आज और रह जाओ। हर रोज़ वे इतना पेट भर लेते कि आगे की ओर उड़ न सकते। इस प्रकार उनके पंख झड़ गये और वे बस कंधों के बल फुदकने लगे। इस कथा पर बापा देर तक हँसते रहे। बोले—"तब तो पैर ही अच्छे हैं जो पहियों का काम दे सकते हैं।"

मैं सोचने लगा कि शायद भील प्रदेश में पैदल ही चलना होगा पर जब यह पता चला कि कुछ बसों का प्रबन्ध किया गया है तो मुझे तसल्ली हुई। बापा बोले—"ये लोग मेरे साथ रियायत करने लगे हैं। शायद वे सोचते हैं कि मैं बूढ़ा हो गया हूँ और अब पैदल नहीं चल सकता। मैं तो आज भी उनसे तेज़ चल सकता हूँ। फिर सोचता हूँ, चलो इन्हें अपने मन की कर लेने दो।"

जिस रास्ते में हमें जाना पड़ा उसमें हर जगह सड़क नहीं थी। बसों के ड्राइवर रास्ते-बेरास्ते की परवाह किये बिना इस यात्रा के संयोजकों के संकेत पर चले जा रहे थे। हचकोलों की कुछ न पूछिये, क्योंकि अधिक रास्ता ऐसा था जहाँ सड़क नहीं थी। एकदम ऊबड़-खाबड़, पथरीला रास्ता था। मैं बापा के साथ वाली सीट पर बैठा सब देखता रहा। कई बार बापा ने कहा—"इससे तो पैदल चलना अच्छा रहता!"

पर इन हचकोलों में भी मुझे बापा से वार्तालाप करने का आनन्द प्राप्त हुआ। एक बस तो वस्त्रों से भरी हुई थी। बापा के आदेशानुसार स्थान-स्थान पर अकाल पीड़ितों में वस्त्र बाँटे गये और उन्हें भोजन के लिये भी सहायता दी गई। बापा के चेहरे की झुर्रियाँ ऐसे अवसर पर हर बार चमक उठतीं। उनकी आँखों में एक नई ही चमक आ जाती। जिन्हें पता चलता कि बस के भीतर ठक्कर बापा बैठे हैं वे आगे बढ़ कर उनके पैर छू लेते। बापा उनसे हँस-हँस कर बातें करते। जैसे वे इस जनपद में एक अतिथि

मात्र न हों, बल्कि स्वयं इस जनपद के विशेष अंग हों और अकाल की समूची पीड़ा सिमट कर उन्हीं के हृदय में केन्द्रित हो गई हो।

ऐसे अनेक अवसरों पर मैंने कैमरे से अवश्य काम लिया। पर लोकगीत की बात तो जैसे दुबक कर मन के किसी कोने में ही छिप कर बैठ गई।

"सेवा ही मेरा एक मात्र लक्ष्य है," बापा ने हँस कर कहा।

उस समय मैं भी चुप न रह सका—"सेवा को तो प्रायः मार्ग के रूप में ही अपनाया जाता है और आप शायद इसे जीवन की अन्तिम मंजिल मानते हैं।"

बापा ने चौंक कर मेरी ओर देखा, जैसे मैंने उनके मर्म को छू लिया हो। बोले—"अगर मैं यह बात अपने जीवन में ढाल सकूं तो फिर मुझे कोई असन्तोष नहीं रह जायगा।"

बापा की जुबानी पता चला कि वे सेवा क्षेत्र में आने से पहले रोड-इंजीनियर थे। तब वे ए० वी० ठक्कर थे, और अपने निकटवर्तियों में अमृतलाल वी० ठक्कर के नाम से प्रसिद्ध थे। फिर जब वे सेवा-क्षेत्र में उतर पड़े तो उन्हें मज़ा आने लगा। सेवा ही जीवन है—यह बात उन्होंने गाँठ बाँध ली। सेवा-क्षेत्र में ही उन्हें गाँधी जी के दर्शन हुए। बस फिर क्या था। गाँधी जी तो बापू थे ही, उन्हें भी बापा कहा जाने लगा, यहाँ तक कि स्वयं बापू भी उन्हें बापा कह कर बुलाने लगे। बस के हचकोलों में मैं सेवा-क्षेत्र के इस महारथी के जीवन पर विचार करता रहा।

एक जगह सरकार तालाब खुदवा रही थी। मैंने कहीं पढ़ रखा था कि जब भी अकाल पड़ता है सरकार को सस्ती मज़दूरी पर बड़े-बड़े काम कराने का ख्याल आ जाता है। यहाँ भी सस्ती मज़दूरी पर तालाब खुदवाया जा रहा था। बापा ने बस से उतर कर तालाब का काम देखा। अनेक भील परिवारों से वे ऐसे मिले जैसे वर्षों से उन्हें जानते हों। वे उनके साथ ऊपर-ऊपर की बातें करके ही नहीं रह जाते थे। बातचीत में वे बहुत गहरे

चले जाते थे, जैसे उनके एक-एक रोग की दवा उनकी किसी न किसी शीशी में मौजूद हो।

हाँ, एक बात तो भूल ही रहा हूँ। अनेक बार ऐसा हुआ कि जहाँ कहीं रात को हम लोग विश्राम करते, हमारा खूब आतिथ्य किया जाता। दिन भर अकाल पीड़ितों से मिलते रहने के बाद मुझे तो मीठे पकवान बिलकुल अच्छे न लगते। बापा की इसके बारे में क्या राय है, यह प्रश्न पूछने की नौबत ही न आई, क्योंकि वे तो सदैव की भांति वही वस्तु ग्रहण करते थे जो उनके नियमित खाद्य के अनुकूल होती थी। मैंने देखा कि ऐसे अवसरों पर जनता के निकट सम्पर्क में रहते हुए भी वे एक प्रकार की विलगता को भी क़ायम रखते हैं, जिससे वे कोरी भावुकता के प्रवाह में बहने से बच जाते हैं।

सन् १६३७ के पश्चात् कोई ढाई वर्ष बाद उड़ीसा में ठक्कर बापा से फिर भेंट हुई। यहाँ भील प्रदेश जैसी यात्रा तो न थी, फिर भी थी यह भी एक यात्रा। यात्री को और क्या चाहिए? यहाँ बापा का व्यक्तित्व और भी उभर कर सामने आ गया। उड़िया-भाषी जनता भी बापा से दूर न थी। भाषा की दीवार को एक ही क्षण में चीर कर वे आगे बढ़ गये। जब आँखें आँखों से बातें कर सकती हों, दिल कैसे पीछे रह सकते हैं? बापा की हिन्दी पर जैसे कुछ-कुछ उड़िया रंग चढ़ गया हो। सच पूछो तो यह मानवता का रंग था।

मैंने देखा कि बापा बहुत-सी बातें डायरी में नोट कर लेते हैं। भील प्रदेश में भी मैं उन्हें डायरी में नोट लेते देख चुका था। मैंने हंस कर कहा—"बापा, आशीर्वाद दो कि मैं भी डायरी रखना सीख जाऊँ।"

बापा ने व्यंग्यपूर्वक कहा—"बाज़ार से एक डायरी ख़रीद लो और रोज़ नोट लेने का नियम बना लो। भले आदमी, डायरी खुद आशीर्वाद देगी। इससे अधिक बापा भी क्या कर सकता है?"

मैंने उत्तर दिया—"क्यों बापा, दिल की डायरी कैसी रहेगी ?"

इस पर बापा को भी हंसी आ गई। उन्हें यह मानना पड़ा कि दिल की डायरी भी बड़ी चीज़ है। फिर भी उन्होंने कहा—"इस दिल की डायरी पर हर कोई नोट नहीं ले सकता। अच्छा हो यदि दिल की डायरी के साथ-साथ कागज़ की डायरी भी रखी जाय।"

आज मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि ये संस्मरण दिल की डायरी देख कर लिख रहा हूँ। नई-नई घटनाओं की याद जब तक ताज़ा रहती है, मन कहता है—अरे भई, ये क्या भूलने की बातें हैं ? इन्हें डायरी पर गिने-चुने वाक्यों में नोट करने से क्या लाभ ? दिल की डायरी पर तो हर घटना का हाल अपने आप ही लिखा जाता है। मैं मानता हूँ कि यह 'दिल की डायरी' भी स्मृति-पटल के बिना नहीं लिखी जा सकती, जिस पर नई-नई घटनाओं की तहें जमती चली जाती हैं। पर महत्त्वपूर्ण घटनाएं तो पुरानी होने पर भी अनेक तहों के नीचे से सिर उठा कर हमारी ओर झाँकने लगती हैं।

बापा का वह भील प्रदेश और उड़ीसा में देखा हुआ रूप दिल की डायरी पर सदा अंकित रहेगा। ऐसे चित्रों को देख कर तो जैसे डायरी के पन्ने स्वयं हंसने थिरकने लगते हैं।

उड़ीसा में बापा ने हंस कर कहा था—"तुम लंका जा रहे हो कहो तो मैं भी चलूं।"

"हाँ, बापा! आप चलें तो दिल नाच उठे," मैं कह उठा था।

"पर अभी तो इधर ही बहुत-सा सेवा-कार्य बाकी है," बापा ने संभल कर उत्तर दिया, "रावण की लंका में अभी तुम ही हो आओ।"

सच कहता हूँ, लंका-यात्रा में मुझे कई बार बापा का ध्यान आ जाता। जैसे वे पीछे से चुपचाप आकर मेरे कन्धे पर हाथ रख देंगे और कहेंगे—लो अब कहो, मैं भी आ गया।

: २ :

एक बार गांधी जी ने कहा था—"ठक्कर बापा तो खुद ही एक संस्था हैं।" एक और अवसर पर गांधी जी ने बापा को लिखा था—"तुम संकट आने पर पवन वेग से दौड़ पड़ते हो!"

गांधी जी बापा के बहुत बड़े प्रशंसक थे। उन्हें यह सदैव स्मरण रहता था कि भारत सेवक संघ (सर्वेंट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी) की ओर से बापा हरिजन सेवक-संघ को कर्ज़ दिये गये हैं।

महादेव देसाई कहा करते थे, ठक्कर बापा स्वयं प्रकाशमान हैं और उन्होंने अनेक व्यक्तियों को सेवा और त्याग का प्रकाश दिखाया है। ठक्कर बापा सचमुच एक कर्मयोगी हैं और उनकी शक्ति अपार है। कोई नया सेवा-कार्य हाथ में लेते वे कभी नहीं चूकते। पिछले दिनों बापा बुन्देलखण्ड यात्रा पर गये थे। इसकी चर्चा करते हुए वियोगी हरि लिखते हैं—'बुन्देलखण्ड की सब ग़रीबी और असहाय अवस्था जगह-जगह बापा ने अपनी आँखों से देखी—नंग-धड़ंग अधपेट बूढ़ों और बच्चों को देखा। इस महंगाई के ज़माने में भी पाँच-पाँच, सात-सात आने और सड़कों पर दस-दस, चौदह चौदह आने सरकारी दरों की मज़दूरी पर स्त्री-पुरुषों को काम करते देखा, महुए की डुबरी, बुरचुन और कोदों-वसारा की रोटियाँ खाते देखा। रेल से ८० मील दूर के एक जंगली गाँव में जब बापा ने कुछ चमारों से पूछा कि तुम अपने बच्चों को स्कूल में भेजते हो या नहीं तो उनमें से एक अधेड़ चमार बड़े ज़ोर से हंस पड़ा—पीठ से लगे हुए अपने ख़ाली पेट को दिखाता हुआ। उसके अट्टहास में प्रताड़ना थी, अवहेलना-पूर्ण व्यंग्य था और हमारे अज्ञान पर रोष था। बोला—'हमायें मोंड़ा भूखन मर रये और जे डुकर बाबा पढ़बे की बातें पूछन आये।' उसकी भीषण हंसी का कारण तो बापा समझ ही गये थे... यात्रा के अन्त में 'बुन्देलखण्ड सेवक

मण्डल' बनाने का उन्होंने संकल्प किया । बापा के व्यक्तित्व से भारत का यह अत्यन्त पिछड़ा भूभाग भी अछूता न रहा ।"

बापा के निकटवर्ती व्यक्तियों की यह शिकायत है कि बापा स्वभाव के कड़े हैं । पर यह सब तो इसलिए है कि बापा नियन्त्रण में विश्वास रखते हैं । नियम यदि नियम है तो इस पर पूरी तरह चलना होगा—यही तो बापा की माँग रहती है । नियम में थोड़ी सी ढील भी इन्हें स्वीकार नहीं । जहाँ नियम की बात आती थी वहाँ तो वे गाँधी जी के संमुख भी अपनी बात पर अड़ जाते थे ।

सुबह के साढ़े छ: बज गये । लीजिये, बापा काम के लिए तैयार होकर बैठ गये । अब यह काम की चक्की रात के साढ़े दस बजे तक चलेगी । देखने वाले सचमुच चकित रह जाते हैं । अभी दफ़्तर के कागज़ देखे जा रहे हैं । रोकड़ बही भी कभी उन्हें भूलती नहीं । अभी समाचार पत्र सुन रहे हैं । लीजिए, अब पत्रों के उत्तर लिखवा रहे हैं । बुढ़ापा न आ गया होता तो ये सब काम अपने हाथ से करते । खैर, परवाह नहीं । सहायक जो हैं । बहुत काम पड़ा है । यह सब काम तो निबटाना ही होगा । जन-गणना की बड़ी-बड़ी जिल्दें देखी जा रही हैं । कमेटियों और कमीशनों की रिपोर्टों से भी छुटकारा नहीं । देखने वाला चकित रह जाता है कि इस बूढ़े कर्मयोगी को आँकड़ों से अद्भुत प्रेम कैसे हो गया । यदि बापा यात्रा पर नहीं निकले तो कुछ ऐसे ही उनकी दिनचर्या रहती है ।

विधान परिषद् के सदस्य चुने गये तो बापा की दिनचर्या में यह नया कार्य भी सम्मिलित हो गया । नवयुवक और अधेड़ सदस्य भले ही परिषद् में समय पर पहुँचने से पिछड़ जायँ, पर यह वयोवृद्ध सदस्य कैसे पिछड़ सकता था । बस बापा नित्य नियमपूर्वक परिषद् भवन में पहुँच जाते और यह आवश्यक समझते कि परिषद् की समाप्ति तक उपस्थित रहें । क्या मजाल जो एक भी धारा या उपधारा उनकी विचारधारा को छुए बिना रह

जाय या वे एक भी संशोधन की ओर ध्यान देने से चूक जायँ ।

हरिजन सेवक संघ का कार्य रोज़ रोज़ का कार्य ठहरा । कस्तूरबा ट्रस्ट के कार्य से भी तो बापा को छुट्टी नहीं मिल सकती । जी हां, वे छुट्टी लेना भी तो नहीं चाहते । गांधी स्मारक निधि का कार्य भी क्यों न किया जाय ? यह लीजिए, शरणार्थियों को ऋण दिलाने वाली कमेटी के कार्य से भी तो बापा मुंह नहीं मोड़ सकते ।

कुछ लोगों को यह शिकायत है कि बापा ने वर्षों से श्री वियोगी हरि को साहित्य क्षेत्र से निकाल कर हरिजन सेवा संघ की उद्योगशाला में लगा रखा है । हरि जी ने स्वयं लिखा है—"मेरे कई मित्र बापा की इस क़द्रदानी या कहिये नीरसता पर खीझ उठते हैं । न तो मैं अपने मित्रों के अर्थ में 'साहित्यिक जीव' बन पाया और न बापा की मनोभिलाषा का 'जन सेवक' ही—'दो में एकहु तो न भई !' आज १७ वर्ष से मैं पूज्य बापा के साथ हूँ । पहले-पहल जब आया, तब डरता था । क्योंकि सुन रखा था कि वे स्वभाव के बड़े कड़े हैं । पर मैंने तो उनका स्वभाव सदा कोमल और सरल ही पाया ।"

बापा के जीवन की एक घटना का उल्लेख करते हुये श्री रामगोपाल त्यागी लिखते हैं—"जुलाई १९४९ में बापा को हृदय रोग हुआ । उन्हें कार्य से रोकने के लिये पं० हृदयनाथ कुंजरू चौकीदार बने । क्योंकि अन्य किसी के नियन्त्रण में वे कब रह सकते थे । एक दिन कुंजरूजी न आ सके । बन्दी को बन्दीगृह के द्वार खुले मिले । शिवम् और त्यागी को फरमान पहुंचा कि जल लेकर आ जाओ । कुछ ही पत्र लिखा पाये थे कि मोटर की आवाज़ आई । ज्ञात हुआ कि हृदय-विशेषज्ञ डा० चौधरी आ गये हैं । बस, बापा एकदम चारपाई पर लम्बे लेट गये और चादर ओढ़ कर बोले—'शिवम् ! सब कागज़ दबा कर रख दो और त्यागी को बाहर भेज दो । डाक्टर देखने न पाये ।' अन्य लोग काम न करने की चोरी करते हैं, पर यह कर्मयोगी

अधिक काम करने के लिये चोरी करता है !"

निष्काम सेवा में जो आनन्द है वह राजनीति में कहां ? यह बात बापा प्राय: जन-सेवकों से कहा करते हैं । साथ ही वे यह कहते हैं कि सेवा कार्य कोई मज़ाक नहीं, जन-सेवक को चाहिये कि स्वयं अपने ऊपर कड़ा नियन्त्रण लागू कर ले ।

एक बड़ी मज़ेदार घटना सुनिये । एक बार किसी जन-सेवक ने हरिजन कुंआ खुदवाने पर रुपया खर्च करने की बजाय यही रुपया एक और सार्वजनिक कार्य में लगा दिया, क्योंकि उसका ख़्याल था कि बाद में चन्दा इकट्ठा करके कुंआ भी खुदवा दिया जायगा । बापा को पता चला तो वे बहुत बिगड़े और उन्होंने इस जन-सेवक को बहुत सख्त चिट्ठी लिख दी । उन दिनों गांधीजी भी हरिजन सेवक संघ दिल्ली में विराजमान थे । उन्हें पता चला तो उन्होंने बापा के सम्मुख उस जन-सेवक की सिफ़ारिश कर दी । बस फिर क्या था । बापा अब गाँधीजी पर बिगड़ उठे । गाँधीजी हंसते रहे । बापा आवेश में आकर गाँधीजी के निवासस्थान से उठ कर चल दिये ।

हरिजन बस्ती में बच्चों के साथ बच्चा बनने में बापा को जो मज़ा आता है उसकी कुछ न पूछिये । यह लीजिये, वे बच्चों की तरह नाच रहे हैं । बच्चों के साथ मुंह बना कर खेलने में भी उन्हें आनन्द आता है और यह भी खूब रही—देखिये तो, बापा ने एक बच्चे को अपने ऊपर चढ़ा लिया और वे नाच रहे हैं ।

बताने वाले तो यहाँ तक बताते हैं कि बालकों में बालक बन कर विचरने वाला कर्मठ व्यक्ति किसी को क्षमा करना तो जानता ही नहीं । इस सम्बन्ध में प्राय: एक घटना का उल्लेख किया जाता है । बापा ने एक बार पंडित हृदयनाथ कुंजरू का प्रवास बिल इसलिये वापस कर दिया था कि उसके साथ आवश्यक वाउचर मौजूद नहीं थे ।

लीजिये, बापा हरिजन बस्ती में एक रोगी की खबर लेने आये हैं और

बेंत का मोटा डंडा दिखाते हुये कह उठते हैं—देखो कल तक ठीक नहीं हुए तो इससे तुम्हारी खबर लूंगा ।

जब से भारत को स्वतन्त्रता मिली है बापा प्राय: अपने मित्रों को यह लिखने लगे हैं—"अब मैं सेवा-कार्य के लिये जवान होने लगा हूं ।"

: ३ :

२६ नवम्बर १६४६ को बापा की ८०वीं वर्षगांठ पर प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने दिल्ली की एक सभा में बापा को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा—"मालूम नहीं मैं आपको आज के दिन क्या बधाई दूं या हम सब अपने आपको या देश को बधाई दें । कुछ लोग ऐसे होते हैं, जैसे कि आप हैं, वे सेवा के कामों में ऐसे खो-से जाते हैं कि इन कामों से अलग करके उनके बारे में विचार करना मुश्किल होता है । ऐसे लोग अपने आप में एक संस्था बन जाते हैं । देश के अलग-अलग हिस्सों में, पहाड़ों और जंगलों में, हरिजनों और अन्य पददलित लोगों में आप इस कद्र हिल-मिल गये कि आपको इससे अलग करके सोचना आसान काम नहीं है । सैकड़ों तसवीरें एक साथ सामने आ जाती हैं । वैसे तो एक आदमी दुनिया में आता है और ज़िन्दगी बसर करके चला जाता है, पर जो काम वह करता है, वह क़ायम रहता है । क्योंकि काम हमेशा चलता रहता है, वह कभी समाप्त नहीं होता । वैसे तो काम सब करते हैं, पर उन्होंने मानव-सेवा के कामों में खाली दिलचस्पी ही नहीं ली, बल्कि उनमें एक तरह से खो से गये । इसलिए ठक्कर बापा को किसी बधाई या इनाम की ज़रूरत नहीं । उन्होंने अपनी सेवा में ही पूरा इनाम पाया । ठक्कर बापा ने एक रास्ता पकड़ा । एक ज़माने से वे उस पर चलते गये और उनके काम का दायरा फैलता गया । मगर काम का सिलसिला एक ही रहा, एक नीयत रही और इतमीनान से वे आगे चलते रहे । इसलिए उनको देखकर जोश और गरूर

पैदा होना स्वाभाविक है। हसद इसलिए होता है कि इस तरह का मादा हमारे अन्दर भी पैदा होता। इसलिए ठक्कर बापा की इस वर्षगांठ पर हम अपने आपको मुबारकबाद देते हैं कि हमें आज यह दिन देखने को मिला।"

बापा की ८०वीं वर्षगांठ सम्बन्धी इस समारोह में उपप्रधान-मन्त्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा—"ठक्कर बापा का जीवन सेवा से इतना भरपूर है कि उसे बयान करने के लिए कई दिन चाहिएं!" भाषण के अन्त में सरदार पटेल ने ठक्कर बापा को एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया और फिर इन कर्मठ मित्रों ने एक दूसरे को प्रेम-भरी बाहों में कस लिया।

इस सवा घंटे के व्यस्त और रोचक कार्यक्रम में संगीत और गरबा नृत्य भी सम्मिलित थे। जब महिलाओं ने ठक्कर बापा को तिलक किया और पुष्पमालाएँ पहनाईं तो यह दृश्य हर्ष और स्नेह से रंग गया।

एक वक्ता ने एक पौराणिक कथा का दृष्टान्त देते हुए कहा कि जब देवताओं पर आपत्ति आई तो वे महर्षि दधीचि के पास जा कर बोले कि भगवन्! हमें आपकी हड्डियों की आवश्यकता है और दधीचि ने हंसते-हंसते देवताओं को अपनी हड्डियाँ दे दीं। इसी प्रकार ठक्कर बापा ने जंगलों में रहने वाले भीलों और पददलित हरिजनों के लिए अपनी सेवाएं अर्पित कीं। जब बाढ़ या भूकम्प आदि विपत्तियाँ आती हैं, दुखी लोग ठक्कर बापा को याद करते हैं।

श्रद्धांजलियों और बधाइयों का उत्तर देते हुए ठक्कर बापा ने कहा—"मेरा हृदय कुंठित हो गया है। आप लोगों का प्रेम देख कर मेरा दिल भर आया है। मगर दो बातें मैं ज़रूर कहना चाहता हूं। एक मेरे जैसे मसकीन आदमी या एक हरिजन के लिए इतना बड़ा जमाव और दिखावा करने की ज़रूरत नहीं थी। इसका अपराधी पीछे बैठा हुआ देवदास भाई है। उसी के प्रेम से मैं लाचार हूं। आज सवेरे सारी बस्ती के तथा हरिजन बस्ती वाले भाई यहां आये। यह देख कर मुझे बड़ा आनन्द हुआ।

असल में मेरा कार्य दिल्ली जैसे नगर में नहीं है। जंगलों में तथा गरीबों की झोंपड़ियों में ही मेरा काम है। आपने मुझे गायन में तथा गरबा में कहा कि मैं वैष्णव हूँ और योगीराज हूँ, उसमें बहुत अधिक अतिशयोक्ति है।"

एक दिन उन सभी प्रदेशों और जनपदों के लोकगीतों में ठक्कर बापा की जयध्वनि प्रतिध्वनित हो उठेगी जो अब तक उनके कार्य के दायरे में आ चुके हैं।

केरल के जलमार्ग पर

हम पांच साथी थे। मैं पंजाबी और वे चारों केरल-निवासी—एक था कवि, जो मेरे सबसे अधिक समीप था, बाकी तीनों कहानी-लेखक, नाट्यकार और चित्रकार थे। उनके अतिरिक्त केरल के दो और प्राणी भी तो थे—हमारे दोनों मल्लाह जो पिता-पुत्र थे।

स्टीमर में यात्रा करने के विरुद्ध मैंने ही आवाज़ उठाई थी। त्रिवेन्द्रम में त्रावणकोर विश्वविद्यालय ने मुझे भारतीय लोकगीत आन्दोलन पर भाषण देने के लिए निमन्त्रण दिया था। चारों साथी भाषण के पश्चात् मुझे शताब्दियों के परिचित मित्रों की तरह मिले और मेरे साथ अर्नाकुलम् तक यात्रा करने के लिए तैयार हो गये। मेरे अनुरोध करने पर उन्होंने स्टीमर की बजाय नौका में यात्रा करने की बात स्वीकार कर ली। रास्ते में अधिक देर लगे और हम जी भरकर केरल के जलमार्ग का अद्भुत दृश्य देखते चले जायँ, यही मेरा दृष्टिकोण था। भाषण के अन्त में त्रावणकोर विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर और राज्य के दीवान सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर ने सभापति पद से दिये गये भाषण में केरल-निवासी मल्लाहों के गीतों की

ओर विशेष ध्यान दिलाया था। और हमारे साथी इस नवयुवक कवि का विचार था कि मल्लाहों के गीत तो महत्त्वपूर्ण और सुन्दर थे ही, केरल के अन्य लोकगीत भी काव्य और संगीत की दृष्टि से भारत के किसी भी अन्य प्रदेश के गीतों से कम न थे।

त्रिवेन्द्रम से कोइलोन तक पैंतालीस मील की यात्रा हमने बस पर की। रास्ते भर वह नवयुवक कवि कोई न कोई गान छेड़ देता और फिर अवसर पाकर स्वयं ही इसकी प्रशंसा के पुल बाँधने लगता। कोइलोन में भिखमंगे लड़कों के गीत मुझे अत्यन्त पसन्द आये और मैंने अपने साथियों की सहायता से उन्हें लिपिबद्ध कर डाला। फिर जब मुझे इनके अनुवाद में भी अपने मित्रों का सहयोग प्राप्त हुआ तो मैंने नपे-तुले शब्दों में इनके सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट किया। मुझे याद है कि कवि महोदय को केरल लोकगीतों की इस सीमित सी प्रशंसा से बिलकुल सन्तोष नहीं हुआ था। मैं मन ही मन में उस भावुकता-प्रधान वातावरण को कोसने लगा जिसमें उसका पालन-पोषण हुआ था।

चाँदनी इतनी आकर्षक थी कि टटोल-टटोल कर चलने वाले यात्री का अन्दाज़ छोड़कर मेरा मन लहरों पर तैरने वाला कमल बन गया। यों प्रतीत होता था जैसे मुझे मृणाल से पृथक् हुए अनगिनत शताब्दियां बीत चुकी हैं और ये लहरें जिन पर मैं तैर रहा हूं, सदा यों ही थिरकती रहेंगी। सचमुच इस नौका पर हम सातों प्राणियों में एक महत्त्वपूर्ण एकस्वरता उत्पन्न हो गई थी।

जैसे कोई योगी चुप साधे बैठा हो, यों नज़र आता था हमारा चित्रकार साथी। शायद वह सामने के नारियल के ऊँचे-ऊँचे वृक्षों को अपने किसी चित्र में अंकित करने की बात सोच रहा था। मैंने सोचा, न जाने वह कब तक इस आशा में बैठा रहेगा, न जाने कब से ये वृक्ष यहां खड़े मानव का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

कवि बोला—"सुनो, वह कोई बाँसुरी बजा रहा है।"

बाँसुरी बज रही थी, जैसे कोई गोपी अपने दोनों हाथों से हृदय को दबाये सहमी, ठिठकी चली जा रही हो अपने कन्हैया की ओर। नौका पर पूरी झोंपड़ी बनी हुई थी और हम खिड़की में से सुदूर दृश्य देख रहे थे, जिधर से यह कुंवारी लय तैरती हुई हम तक पहुँच रही थी।

कवि कह रहा था—"मेरी कविता तो कोयल की कूक के समान है। रुपये के लिए मैं कभी कविता नहीं लिखता।"

नाविक और उसका पुत्र बड़े कर्मठ प्राणी थे। दूर खड़े नारियल के मूक वृक्षों के समान वे चांदनी रात के प्रशंसक अवश्य थे, पर वे रुपये के बिना नौका न चला सकते थे।

मैंने कहा—"मैं ऐसा कवि नहीं बन सकता। मैं तो मज़दूर हूँ।"

नाट्यकार, कहानी-लेखक और चित्रकार तीनों एक स्वर हो कर बोले—"हम भी मज़दूर हैं।"

दोनों नाविक घबरा गये। हमारी भाषा से वे अपरिचित थे। उन्होंने समझा होगा कि हममें कोई झगड़ा हो गया है। उस समय मेरे मन में कोइलोन के भिखमंगे लड़के का वह गान गूंज उठा, जिसे मैंने कुछ-कुछ विलम्बित लय में गाई गई जयजयवन्ती के समीप अनुभव किया था। मेरी दृष्टि में वह भिखमंगा नहीं, एक मज़दूर था। कवि की ओर मैंने घूर कर देखा। भावुकता-प्रधान वातावरण से छुट्टी पाकर वह यथार्थवाद के धरातल पर साँस लेना आरम्भ करे, यही मैं उसे बताना चाहता था। दाईं ओर पश्चिमी घाट के पहाड़ थे और बाईं ओर अरब सागर तथा इस जल-मार्ग के बीच की भूमि। पश्चिमी घाट का सारा जल इन झीलों में आकर गिरता है। आरम्भ में इन झीलों का क्रम अटूट न था। फिर मानव-मस्तिष्क ने आगे बढ़ कर भूमि को खोदने का आयोजन किया और अब इस अटूट जल-मार्ग से यातायात में बहुत आसानी हो गई है। केरल में सड़कें कम हैं, इसे

जलवायु की मजबूरी समझिये ।" पर सागर तट के साथ-साथ इतना लम्बा जलमार्ग सारे भारतवर्ष में बस एक ही है ।

कहानी-लेखक कह रहा था—"जनवरी, फरवरी और मार्च—ये हमारे खुश्क महीने हैं । इस ऋतु में खुश्की की गर्म हवाओं का सामना रहता है । तब सायंकाल के समय सागर की ओर से ठंडी हवायें चल पड़ती हैं और चित्त प्रसन्न हो जाता है । अप्रैल के आरम्भ में पश्चिमी घाट पर बिजलियां कड़कती हैं, खेत बो दिये जाते हैं । फिर मई में दक्षिण-पश्चिम से नीलवर्ण मेघ उठ उठ कर मानसून की विजय-पताका फहराते हैं । जब देखो वर्षा ही वर्षा । इस ऋतु में इस जल मार्ग पर भी यौवन आ जाता है । अगस्त में जाकर कहीं वर्षा कुछ-कुछ थमती है । वैसे इक्का-दुक्का बौछारें तो दिसम्बर तक समाप्त नहीं होतीं ।"

नाट्यकार बोला—"इतनी वर्षा के होते हुए भी हमारे किसान केरल की आवश्यकतानुसार अन्न पैदा नहीं कर पाते, बहुत सा अन्न बाहर से मंगवाना पड़ता है ।"

"हाँ, हाँ, यह तो ठीक है," मैंने बात को ज़रा गोल करते हुए कहा, 'आप में से कोई साहब यह बताने का कष्ट तो करें कि केरल में मालाबार शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई ।"

कवि इस पर भी कुछ न बोला । पर नाट्यकार ने मेरा पथ-प्रदर्शन करते हुए कहा—"मालाबार शब्द का प्रयोग इतिहास में सर्वप्रथम अलबरूनी ने किया था । पर इससे बहुत पूर्व एक मिश्री सौदागर ने भारत के पश्चिमी तट पर 'माले' नामक नगर का उल्लेख किया है जो उसकी दृष्टि में काली मिर्च का सबसे बड़ा दिसावर था । मालाबार 'मालेबार' से बिगड़ कर बना होगा । अब उस 'माले' नामक नगर का इतिहास लुप्त हो चुका है । एक मत यह भी है कि मालाबार 'माला' और 'बार' से मिलकर बना है । 'माला' मलयालम में पहाड़ी को कहते हैं और 'बार' हमारे लिए विदेशी शब्द है ।

कदाचित् इसका अर्थ देश होता है। मालाबार के लिए हमारा अपना नाम है मलयालम—पहाड़ियों का देश। अब यह नाम हमारी भाषा के लिए ही प्रयोग में आता है—पहाड़ियों के देश की भाषा। और सत्य तो यह है कि मलयालम या मालाबार के स्थान पर हमें केरल शब्द ही प्रिय है, जो हमारी जन्मभूमि का प्राचीन नाम है।"

कहानी-लेखक ने मुस्करा कर कहा—"यह कहानी इससे कहीं पुरानी है। पुराणों में कई स्थानों पर 'परशुरामक्षेत्रम्' के नाम से ही इस देश की चर्चा की गई है। एक दन्तकथा है कि पहले यह धरती समुद्र के नीचे थी और अरब-सागर की लहरें पश्चिमी-घाट के चरण चूमती थीं। ब्राह्मण-योद्धा परशुराम ने बाहुबल से इस धरती को सागर से बाहर निकाला था। हमारे यहां भगवान् परशुराम की पूजा अब तक सर्वप्रिय है। देखने में यह बात बड़ी विचित्र-सी लगती है। पर अब तो कुछ वैज्ञानिक भी यह कहते सुनाई देते हैं कि किसी युग में केरल की भूमि सागर के नीचे रह चुकी है और फिर किसी भूकम्प या ज्वालामुखी के उद्गार के कारण यह भूमि बाहर आ गई जो अरब सागर और केरल के जलमार्ग के बीच है। कहा जाता है कि आज से कोई एक हज़ार वर्ष पूर्व यहां सब जगह जल ही जल था—ठाठें मारता सागर। एक मत यह भी है कि नागवंश के किसी सेनापति ने परशुराम के नाम से लोकप्रिय होने की चेष्टा की और आर्यों के साम्राज्य को केरल के अंचल तक विस्तृत करने का श्रेय प्राप्त किया।"

कवि अब भी चुप था। चित्रकार बोला—"अब लगे हाथों केरल की कहानी भी सुना डालो न।"

कहानी लेखक तो तैयार था ही। बोला—"मैं सब सुनाऊंगा। हमारा खानाबदोश साथी कहीं ऊब न जाय मुझे तो बस यही डर है।"

मैंने कहा—"मैं तो कहानी-लेखक का पहले ही आभारी हूं। भाई, दिल खोल कर सुनाओ केरल की कहानी।"

कहानी लेखक बोला—"केरलम् या केरल का अर्थ है चेर राजाओं की भूमि। करनाटक की कन्नड़ भाषा के प्रभाव से 'चेरलम्' से बिगड़कर यह 'केरलम्' बन गया। वैसे यह प्रदेश चेर, चोल और पांड्या नामक तीन हिन्दू राजवंशों के आधिपत्य में रह चुका है, जिन्होंने दक्षिण भारत के इतिहास का निर्माण अपने बाहुबल से किया था। कुछ इतिहासकारों का विचार है कि पहले केरल प्राचीन चेर साम्राज्य का अंग था, जिसकी शक्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी। फिर इसके पश्चात् केरल स्वतन्त्र भी हो गया था।"

कवि का ध्यान सतरियों के समान खड़े हुए नारियल के वृक्षों की ओर था। नाट्यकार ने कहानी-लेखक की बात काट कर कहा—"भाई, अब कहानी खत्म भी करो। मैं समझता हूँ कि केरल शब्द का जन्म 'केरम्' से हुआ है—केरम् अर्थात् नारियल और केरल अर्थात् नारियलों का देश—अनगिनत नारियलों का देश। त्रावणकोर राज्य, कोचीन राज्य और ब्रिटिश मालाबार—यही तो हमारा प्यारा केरल प्रदेश है। इसमें हमारे प्यारे त्रावणकोर राज्य की लम्बाई पौने दो सौ मील है—कन्याकुमारी से अर्नाकुलम तक। कोई एक करोड़ लोग मलयालम बोलते हैं। मेरा विचार है कि स्वतंत्र भारत में मलयालम बोलनेवालों का यह केरल प्रदेश रूस की स्वतन्त्र सोवियतों के समान जनशक्ति द्वारा एक नये संसार की स्थापना करेगा—नया नाटक, नई कहानी, नई कविता और नई चित्रकला। हम अपनी पुरातन थाती पर उचित गर्व करेंगे और नये युग की नई संस्कृति का निर्माण हमारा आदर्श होगा। और सच पूछो तो नये साहित्य और कला का आरम्भ कभी का हो चुका है।"

मैंने कहा—"जब सब कुछ नया हो रहा है तो केरल के लोकगीत भी तो नये होकर रहेंगे।"

अब कवि भी चुप न रह सका। बोला—"नये लोकगीत? जी हाँ, लोकगीत तो सदा जन्म लेते रहते हैं।"

जलमार्ग पर चाँदनी झिलमिला रही थी। कवि सिगरेट पी रहा था।

और धुएँ के नन्हे-नन्हे बादल मेरे समीप से हो कर गुज़र रहे थे। शायद इन धुएं के बादलों में कवि अपनी किसी कविता के लिए कोई नई उपमा ढूंढ रहा था।

दोनों मल्लाहों की ओर मैंने ध्यान से देखा। उनके ओंठ धीरे-धीरे लाल होते नज़र आ रहे थे जैसे वीरबहूटियाँ रेंग रही हों। शायद वे भी किसी नये लोकगीत को जन्म देने के विचार से नये आदमी हो उठे थे। जुगनू अलग अपनी आंखमिचौलियों में मग्न थे। कहानी लेखक बोला—"मुझे तो ये जुगनू भी नये मालूम होते हैं। इन पर मैं एक कहानी लिखूंगा।"

नाट्यकार ने एक क़हक़हा लगाया। चित्रकार बोला—"अरे भई जुगनू तो सदा नये थे और सदा नये रहेंगे।"

मैंने मन ही मन में कहा कि वीरबहूटियाँ भी सदा लाल थीं और सदा लाल रहेंगी। जैसे मल्लाहों के ओंठ और भी लाल हो उठे हों। जैसे वीरबहूटियों की पंक्तियों ने बड़े सन्तोष से इन ओठों पर दो रेखाओं का रूप धारण कर लिया हो। कवि चुप था। मैंने सोचा कि ये वीरबहूटियाँ उसे भी नज़र आ रही होंगी और वह उन्हें अवश्य अपनी किसी कविता में स्थान देगा।

चाँद हमें घूर-घूर कर देख रहा था। शायद वह हमें इस जलमार्ग के सौंदर्य से तृप्त होने की प्रेरणा देना चाहता था। चारों ओर जीवन की रिक्तता तो थी ही, फिर भी जैसे चाँदनी की पतली-पतली बाँहों ने स्थान-स्थान पर गहरी छाया को थों भींच रखा था जैसे मानवता अपार पशुता को अपने समीप लाने का यत्न कर रही हो। नारियल के वृक्ष खत्म न हो सकते थे। मुझे यों लगा जैसे ये वृक्ष इस जलमार्ग का वास्तविक शृंगार हों। मेरे मन में जैसे कोई गान जाग रहा हो—केरल देश हमारा, केरल प्यारा प्रान्त हमारा! केरल—अनगिनत नारियलों का देश। केरल—लम्बे जलमार्ग का देश! केरल—प्रकाश और छाया का देश। घड़ी की निरन्तर टिकटिक के

समान ये शब्द मेरे मन में गूँज रहे थे। मैं सोचने लगा कि जैसे नन्हें नन्हें कीड़े सुर्मे की सी बारीक मिट्टी पर रेंग-रेंग कर विचित्र रेखायें छोड़ जाते हैं, उसी तरह पुराने लोकगीतों के स्वर इन मल्लाहों के मन पर अपनी रेखाएं छोड़ जाते होंगे। पर अब तक उन्होंने कुछ न गाया था। कवि के द्वारा मैंने उनसे अनुरोध भी किया, पर वे गाने के लिए तैयार न हुए। उल्टा उनके कहकहे हथौड़े की तरह चोट करते हुए दिखाई दिये।

फिर मेरे अनुरोध पर कवि ने एक गीत छेड़ दिया। कहानी लेखक ने धीरे से मेरे कान में कहा—"यह मलयालम लोकगीत बहुत पुराना है।"

जैसे जलधारा पर लहरें उठ रही हों या जुगनुओं की आंखमिचौलियाँ पहले ही तेज़ हो गई हों देखते ही देखते। या जैसे वीरबहूटियों की पंक्तियाँ ओंठों के अतिरिक्त हृदय और मस्तिष्क पर भी रंग चढ़ा रही हों। मेरा मस्तिष्क यह सब बड़े वेग से अनुभव कर रहा था।

गीत खत्म हो चुका था। अब मानो मेरे सामने एक दुलहिन बैठी थी, जिसकी नाक की सीध निकाली हुई मांग में सिन्दूर भर दिया गया हो। शायद यह सिन्दूर न था, इस मांग पर वीरबहूटियों ने पंक्ति बना रखी थी। गीत के शब्द अभी तक मेरे लिए एक पहेली से अधिक न थे। मैं न जाने क्या से क्या सोच रहा था। फिर जैसे उस दुलहिन की चूड़ियों की झंकार मेरी कल्पना में गूजने लगी। फिर जब पता चला कि यह गीत तो एक सांपिन के सम्बन्ध में है और जुगनुओं, वीरबहूटियों, सिन्दूर से भरी मांग या चूड़ियों की झंकार से इसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं तो मानो चाँद भी मुझे चिढ़ाने लगा, तारे भी मुझे घूरने लगे, हवा भी एक व्यंग के समान चुभने लगी। अनुवाद किये जाने पर गीत यों सामने आया—

'अजी तुम किधर से चली आती हो, काली सांपिन ?'
'मैं तो अब अंडे देकर जा रही हूँ।'

'काली मां ! तुम्हें तनिक भी तो दया नहीं आती,
अनगिनत अंडे दे डाले हैं तुमने ।
इन अंडों से सैंकड़ों-हज़ारों सपोलिये निकल आयेंगे ।
बाप रे ! इन अंडों से इतने सपोलिये निकल आने पर
इस अकिंचन मानव को भला कहाँ आश्रय प्राप्त होगा !'

एक सपेरे ने एक बार अपनी अनुभव-राशि मेरे सामने उंडेलते हुए कहा था कि अंडे देने के पश्चात् सांपिन उनके गिर्द एक गोल दायरा खींच कर चली जाती है और वापस आ कर इस दायरे के अन्दर रेंगनेवाले सपोलियों को खा लेती है । केवल वही सपोलिये सांप बनते हैं जो सौभाग्य से इस दायरे से बाहर निकल जाते हैं । उसका विचार था कि हर सांपिन बहुत हद तक मनुष्य की मित्रता का दम भरती है । नहीं तो यदि उसके सब सपोलिये जीवित रहें, तो सचमुच मनुष्य को कहीं ढूंढे से भी बचाव की अवस्था नज़र न आये । भूखी नागिन अपने अंडे खाय—उत्तर भारत की यह लोकोक्ति ऐसे ही अनुभव पर आधारित है । उस समय मुझे एक पंजाबी सपेरे का ध्यान आया जिसने कहा था अपने अंडों के गिर्द घेरा बना कर नागिन कहीं चली नहीं जाती, बल्कि अंडों के गिर्द कुंडली मार कर बैठी रहती है ; ज्यों-ज्यों भूख लगती है वह अपने अंडे खाती जाती है ।

कवि कह रहा था—"सांपिन के एक-एक अंडे से कई-कई सपोलिये निकल आते हैं ।"

कहनी लेखक बोला—"मैं एक कहानी लिखूंगा जिसकी पृष्ठभूमि में अनगिनत सांपिनें अनगिनत अंडे दे रही होंगी और उनमें से अनगिनत सपोलिये निकल निकल कर पल रहे होंगे। सांपिनें अपने अंडे या सपोलिये स्वयं नहीं खायेंगी । साँपों और मनुष्यों में वह घोर युद्ध होगा कि भगवान् ही बचावे ।"

नाट्यकार बोला—"तो मैं कहूंगा कि यह मेरे एक एकांकी की नक़ल

है। मेरा वह एकांकी हूबहू इसी विचार के गिर्द घूमता है ।"

चित्रकार बोला—"मेरे पास तो रंग हैं और रेखाएं। पर कुछ न कुछ मैं भी पढ़ता रहता हूं। यदि मेरे चित्र को कोरी नकल न कहा जाय तो घर पहुँच कर मैं भी एक चित्र बनाऊंगा जिसमें लोकगीत की साँपिन के सम्मुख धरती का अकिंचन मानव हाथ बाँधे खड़ा होगा।"

"अवश्य, अवश्य," हम सब एकस्वर हो कर बोले ।

दोनों मल्लाह भी खुश नज़र आते थे। साँपिन का गीत उन्होंने बड़े रस से सुना था। हम सातों साथियों में एक महत्वपूर्ण एकस्वरता पैदा हो गई थी केरल के जलमार्ग पर ।

भारत की राष्ट्रभाषा

मुझे तो हंसी आती है, क्योंकि आज भी, जब भारत की विधान परिषद द्वारा राष्ट्रभाषा का निर्णय हो चुका है, कुछ लोग बराबर यही पूछते चले जाते हैं—क्यों जी, राष्ट्रभाषा हिन्दी होनी चाहिए या उर्दू या हिन्दुस्तानी? यह प्रश्न आज का नहीं। अनेक बार इस प्रश्न का उत्तर दिया गया। पर जिनके मन में कांटा है वे बराबर पूछ बैठते हैं। शायद वे चाहते हैं कि किसी तरह पलड़ा उनकी ओर झुक जाय। और सब बातें छोड़िए। कानों से सुनिए, आँखों से देखिए। ये किस भाषा के शब्द हैं जो काश्मीर से कन्या-कुमारी तक हमारे सम्मुख अपना हृदय खोल देते हैं?

वह कौन-सी भाषा है जिसमें राष्ट्रपिता ने हमें सत्याग्रह के लिए पुकारा था? स्वयं राष्ट्रपिता ने ही तो कहा था—'भाषा वही श्रेष्ठ है जिसको जन समूह सहज ही में समझ ले। भाषा का मूल करोड़ों मनुष्य रूपी हिमालय से मिलेगा और उसी में रहेगा।'

यह 'सत्याग्रह' किस भाषा का शब्द है? 'राष्ट्रपिता', 'राष्ट्रपति', 'जनमत', 'स्वाधीनता', 'जनता', 'संस्कृति', 'निर्माण', 'विधान परिषद',

'धारासभा'—ये किस भाषा के शब्द हैं ? ये उसी भाषा के शब्द हैं जिसका स्रोत देश की अनेक भाषाओं की तह में बहता है ।

जगत् विख्यात् 'गीतांजलि' पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबुल पुरस्कार दिया गया था। इस 'गीतांजलि' शब्द ही को लीजिए । यह किस भाषा का शब्द है ? यह तो देश की अनेक भाषाओं में प्रयोग हुआ है । कहाँ से इसे इतनी शक्ति मिली ? जिस स्रोत से बहता हुआ यह बंगला में आया, मराठी में आया, गुजराती में आया, हिन्दी में आया, वहाँ से और शब्द भी तो हमें मिल सकते हैं । हम संकोच क्यों करें ?

लाख मतभेद हो, अन्तर्प्रादेशीय और सार्वजनिक व्यवहार का ध्यान तो रखना ही होगा । सचमुच आज तो वही शब्द चलेंगे जिनकी जड़ें हमारी धरती में पाताल तक चली गई हैं ।

किस भाषा ने राष्ट्र की भावनाओं को जगाया ? उस भाषा की जननी कौन-सी भाषा है ? जननी के स्नेह को तो कोई भाषा भूल नहीं सकती । ससुराल में बैठे-बैठे मायके की सुध न आये, यह प्रतिबन्ध व्यर्थ है । यदि जननी की सुध भूल गई तो क्या राष्ट्रभाषा की अभिवृद्धि शतशत पीढ़ियों तक के लिए कुंठित नहीं हो जायगी ?

रेल की पटरी से थोड़ा नीचे उतरते ही अंग्रेजी का माध्यम धरे का धरा रह जाता है, यह बात मैंने अपनी यात्राओं में अनेक बार अनुभव की है । जो सड़क गाँव की ओर जाती है, जो पगडण्डी खेतों की ओर निकल जाती है, उस पर चलते-चलते कोई किस भाषा में बात करे ?

देश का मानचित्र देख लीजिए । कौन-सी भाषा अनेक प्रान्तों में बोली और समझी जाती है, इसके उत्तर में धांधली नहीं चल सकती । यह तो निर्विवाद है कि संस्कृत के अनेक मधुर और कोमल शब्द आज भी लोग अधिक से अधिक संख्या में बोलते और समझते हैं । फिर यह क्यों कहा जाता है कि राष्ट्रभाषा यदि संस्कृतनिष्ठ होगी तो यह उसका दोष होगा ।

भारत की राष्ट्रभाषा

युग कितनी तेजी से बदल रहा है। जो लोग अभी तक पिछले युग की बातें किये जा रहे हैं वे उल्टा राष्ट्रभाषा के प्रश्न को उलझा रहे हैं। बात बिलकुल सीधी है।

लास्की ने ठीक कहा है—"भाषा संगठित राष्ट्रवाद का सबसे मज़बूत स्तम्भ है ; राष्ट्रीय एकता की जड़ एक भाषा है।" और मैं तो झुँझला उठता हूँ जब कुछ लोग राष्ट्रभाषा के प्रश्न को ले कर व्यर्थ की तनातनी आरम्भ कर देते हैं और कहते हैं—क्यों जी, क्या एक से अधिक भाषाएं राष्ट्रभाषाएं नहीं हो सकतीं ? क्योंजी, क्या एक से अधिक लिपियां राष्ट्र-लिपियां नहीं हो सकतीं।

करोड़-करोड़ जनता की सुध आते ही राष्ट्रभाषा की रूपरेखा स्वयं स्थिर होने लगती है। यहाँ कोई मतभेद नहीं ठहरता, कोई अविश्वास, कोई सन्देह नहीं टिकता। एक माध्यम चाहिए। वह माध्यम कौनसा हो ? बस यही प्रश्न रह जाता है और राष्ट्रभाषा स्वयं हमारे सम्मुख अपना हृदय खोल देती है।

वह जो राष्ट्रपिता ने कहा था—"मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है। पूरी आज़ादी तो हमें अंग्रेज़ी की गुलामी छोड़ने पर ही मिलेगी !" इस नेक सलाह को सुनी-अनसुनी करने की क्षमता किस में है ?

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने राष्ट्रभाषा की चर्चा करते हुए ठीक ही कहा है—"विदेशी लोग इस बात पर हंसेंगे कि भारतीयों ने अंग्रेजी राज्य का तो बहिष्कार कर दिया, पर वे अंग्रेज़ी भाषा से चिपके हुए हैं। हमें अपने देश की मर्यादा और गौरव के लिए अपनी भारतीय भाषा ही राष्ट्र-भाषा बनानी चाहिए......सर्वोत्कृष्ट मार्ग यही है कि संस्कृत शब्दों से युक्त हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा और देवनागरी लिपि को ही राष्ट्रलिपि बनाया जाय।"

राष्ट्रभाषा की किसी भी प्रांतीय भाषा के साथ प्रतियोगिता नहीं होगी।

बल्कि राष्ट्रभाषा से तो प्रांतीय भाषाओं को उचित बल मिलेगा।

श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर का मत है—"वही भाषा राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण कर सकती है जो हिमालय से कन्याकुमारी तक सर्वत्र अत्य-धिक परिमाण में बोली या समझी जाती और अल्प-आयास में सीखी जा सकती हो। वह भाषा हिन्दी ही है और हिन्दी हो ही सकती है।" कौन भला आदमी इससे सहमत न होगा?

भारत के प्रत्येक प्रदेश में, प्रत्येक जनपद में हिन्दी के माध्यम द्वारा ही जनता से मेरा परिचय हुआ, इसी माध्यम द्वारा मैं जन-संस्कृति के मूलस्रोत तक जा पाया। सर्वत्र मैंने हिन्दी के माथे पर ही भाग्य का चिह्न देखा। इस चिह्न को आज कौन मिटा सकता है?

गोदावरी

जी चाहता था कि नौका रुके नहीं, चलती रहे, चलती जाय। मेरा और इस मल्लाह का मुक़ाबिला ही क्या। मैंने सोचा कि वह खुले आज़ाद पानियों का बेटा है। लम्बा क़द, तने हुए पुट्ठे, चौड़ा सीना—चालीस अंगुल से तो क्या कम होगा। खाली हाथ दस आदमियों को पछाड़ सकने का साहस। आंखों में एक गुस्ताख़ मुस्कान। हूबहू मंझे हुए तांबे जैसा रंग। इतनी कमी रह गई थी कि लंगोटी और शरीर का रंग मिलकर एक नहीं हो गया था। तना हुआ सीना, तने हुए बाजू, तनी हुई रानें और पिंडलियां—जैसे उनके अन्दर रबड़ के गुब्बारे खूब दबा कर भर दिये गये हों। सिर पर घुंघराले बालों ने अवश्य किसी भंवर को देखकर गोल-गोल कुंडलों में मुड़ते रहने का ढंग सीख लिया था। खुले-आज़ाद पानियों की एक-एक बात उसे याद थी। भयानक तूफ़ानों की भयानक कहानियाँ उसे थाती में मिली थीं। प्रचंड हवाओं से खेलते-खेलते उसका बचपन बीता और अब यौवन की प्रफुल्लता भी बहुत-कुछ इन हवाओं की ऋणी थी। पानी ही पानी—सदा बहता पानी। पानी में फैली तरह-तरह की घास की सुगन्ध में

बसे हुए थे उसके सपने। और यह भी प्रत्यक्ष था कि गोदावरी ने अपने सुन्दर गान उसे जी भर कर सुनाये थे।

अब उसकी गुस्ताख मुस्कान पहले से सुन्दर हो चली थी। किसी खटा-खट भर जानेवाली नौका में इस एकान्त का रस हरगिज़ न आ सकता। यह नौका छोटी थी। इसलिए कम दाम देने ही की बात थी। दूसरी बात यह कि मैं केवल संकेत से काम ले रहा था। न मैं उसकी भाषा जानता था पूरी-पूरी, न वह मेरी भाषा समझता था। उसकी मुस्कान ने कई रंग बदले और जिस रंग पर पहुँच कर उसकी मुस्कान रुकी-रुकी-सी रह गई उससे तो यही प्रतीत होता था कि वह मुझे अपने मित्रों की सूची में सम्मिलित कर चुका है।

यदि वह मेरी भाषा समझता होता या मैं ही पूरे ठाट से तेलगु बोल सकता तो मैंने उसके सम्मुख मेक्सिम गोर्की के शब्दों में अपना साहित्यिक दृष्टिकोण रख दिया होता—"स्वर्गीय और पार्थिव का विवाद बहुत पुरातन है। वे साहित्यकार, जो सदा आकाश पर दृष्टि रखते हैं, उनकी सेवा में मैं केवल यह कहने का साहस करता हूँ कि हमारी धरती भी एक ज्योतिर्मय ग्रह है।" उसकी मुस्कान फीकी पड़ चुकी थी, जैसे उसने मेरे दिल की बात भांप ली हो और कहना चाहता हो—होगी यह धरती एक ज्योतिर्मय ग्रह तुम्हारी दृष्टि में। पर भाई मेरे, पहले मुझे तो देखो। कितना परिश्रम करता हूं और इस पर भी भरपेट भोजन नहीं मिलता।

गोदावरी की विस्तृत जलधारा पर धूप की चमक ने चांदी का पानी फेर दिया था। वह हमारी भावनाओं से अछूती कैसे रह सकती थी? जैसे वह कह रही हो—मैंने तो इतिहास के बदलते हुए पृष्ठ देखे हैं। मेरी जलधारा में कई बार मेरे बेटों का लहू भी सम्मिलित होता रहा है। मैंने तलवारों के युद्ध देखे हैं, नेज़ों और भालों की अनियों पर गर्म-गर्म खून देखा है। मेरे देखते-देखते कई साम्राज्य स्थापित हुए। पर अब जो युग आने

वाला है वह श्रमिक को सब से ऊंचा स्थान देगा। उसे कभी भूखों न मारेगा।

गोदावरी मुझे पहचानती थी। इससे पहले हम महाराष्ट्र में मिल चुके थे। उसे शायद वह दिन भी तो याद था जब नासिक के पश्चिम में अठारह मील पर स्थित त्रियम्बक में जा कर मैंने उसका जन्म स्थान भी देख लिया था। त्रियम्बक नगर से ऊपर पत्थर की सौ, दो सौ नहीं पूरी छः सौ नव्वे सीढ़ियां चढ़ने पर गोमुख देखकर मुझे कितनी खुशी हुई थी, जिसमें से गोदावरी का शीतल जल नीचे गिर रहा था। पर्वतों की इस दैत्याकार दीवार के उस पार अरब सागर कोई पचास मील ही होगा और मैं इस सोच में डूबा हुआ खड़ा था कि किस प्रकार गोदावरी ने एक लम्बी यात्रा की बात ठान ली थी—नौ सौ मील लम्बी यात्रा। त्रियम्बक और नासिक के बीच गंगापुर का बत्तीस फुट ऊंचा प्रपात देख कर तो मैं कह उठा था—गोदावरी मुझे भूल मत जाना। मैं भी तेरा यह दृश्य अन्तिम श्वास तक याद रखूंगा। नासिक तो मैंने जी भर कर देखा था। सीताकुंड, रामकुंड और लछमणकुंड को देखते-देखते राम वनवास की कहानी मेरी आंखों में फिर गई थी। वहां मैंने वह गुफा भी देखी जिससे पंचवटी की गाथा सम्बन्धित है। रामसेज पहाड़ी भी देखी जिस पर अनगिनत बार राम ने विश्राम किया होगा। यों प्रतीत होता था कि गोदावरी पुराने युगों के इतिहास को अभी तक भूली न थी।

समीपवर्ती गांव के मन्दिर से घंटियों की आवाज़ आ रही थी। मैं झुंझलाता रह गया। मल्लाह की आंखों में एक नई चमक आ गई थी। अपनी घनी दाढ़ी में उंगलियां फेरते हुए मैंने इन घंटियों के विरुद्ध अपना क्रोध उंडेल दिया—निर्लज्ज घंटियां! अनगिनत शताब्दियों से ये मानव को वास्तविक समस्याओं से विमुख करती आई हैं! इसी क्रोध में मैंने अपनी दाढ़ी पर के दो चार बाल नोच कर गोदावरी की जलधारा

पर फेंक दिये । गोदावरी उसी तरह बहती रही। उसे मेरा यह कार्य अच्छा न लगा होगा, यह सोच कर मैं खिसियाना-सा हो गया । मल्लाह की आंखों में झाँक कर देखा तो वहाँ भी उपेक्षा ही सिर उठाती नज़र आई । मैंने सोचा कि मुझे अपनी भावना पर अधिकार रखना चाहिए। घंटियाँ तो बुरी नहीं । निकट भविष्य में हम उनकी दिशा बदल डालेंगे ।

मल्लाह की ओर मैंने मित्रता की भावना से देखा । मैं कहना चाहता था—भाई मेरे, तुम नौका चलाते हो और मैं लेखनी चलाया करता हूं । अन्तर केवल इतना ही है कि नौका का चप्पू तुम्हारे बलिष्ठ पुट्ठों की शक्ति चाहता है और लेखनी भी तो प्रतिभा की विद्युत् शक्ति के बिना नहीं चल सकती । यों ही मैंने नौका से झुक कर देखा, गोदावरी ने रुपहली लहर के रूप में अपनी बांह ऊपर उठाई । जैसे गोदावरी कह रही हो—हाँ, मैं मानती हूँ । मल्लाह और लेखक भाई भाई हैं ।

गोदावरी मुस्करा रही थी । जैसे उसे अपनी शक्ति का अनुभव हो चुका हो । अपनी लम्बी यात्रा के विचार से वह फूली न समाती थी । जब से उसने जन्म लिया, एक दिन के लिए भी वह सोई न थी । दिन को तो सब जनता जागती थी, और रतजगा भी तो सदा नहीं किया जाता । पर गोदावरी ने अपनी आयु की सब रातें रतजगे में ही बिता दी थीं । शायद वह कहना चाहती थी—मैं जनता को अपनी छिपी हुई शक्ति पहचानने की प्रेरणा देती आई हूँ । त्रियम्बक से तो मैं केवल अपने ही बलबूते पर चल पड़ी थी । फिर किनारों से अनेक नदी-नालों ने मेरा आलिंगन किया । कोई साढ़े छः सौ मील की यात्रा मैंने इसी तरह पूरी कर ली । फिर उत्तर की ओर से वर्धा नदी आ कर मेरे वक्षस्थल में समा गई। पैन गंगा और वैन गंगा ने पहले आपस में एक बड़ी नदी को जन्म दिया और फिर इस बड़ी नदी पर्णाहिता ने अपनी समस्त जलराशि मुझे सौंप दी । फिर उत्तर की ओर से बहन इन्द्रावती दौड़ी-दौड़ी आई और मेरे गले लग कर अपने को भूल गई ।

और फिर मेरे आनन्द का पारावार न रहा जब शबरी भी पूर्वी घाट की असीम जलराशि समेटे हुए मेरी जलधारा में एकाकार हो गई।

गोदावरी की मुस्कान अब और भी स्पष्ट हो गई थी। मैंने कहा—गोदावरी मैया, तुम सच कहती हो। जैसे अधिक से अधिक वोट मिलने से एक प्रतिनिधि की हैसियत बढ़ जाती है, उसी प्रकार एक बड़ी नदी छोटी नदियों का जल प्राप्त करने के पश्चात् अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व करने के योग्य हो जाती है। मुझे तो जागी हुई जनता और एक बड़ी नदी में अधिक अन्तर नज़र नहीं आता।

मल्लाह ने अपनी पतली आवाज़ में कोई पुराना गीत छेड़ दिया था। शायद यह कोई गोदावरी का गीत था। पर मेरे लिए यह निर्णय करना बहुत कठिन था। क्योंकि बार-बार तो दूर रहा, गोदावरी का नाम एक बार भी सुनाई न दिया। उसके कन्धे पर बाँह टेक कर मैंने अपने संग्रह से एक तेलगु लोकोक्ति सुना डाली—'कलिमि लो मीड़ी कावड़ि कुन्दलू' अर्थात् अमीरी-ग़रीबी कामर के दो घड़े हैं।

मल्लाह की आँखों में चमक आ गई। वह खुश था कि मैं उसकी भाषा के ये चार शब्द बिलकुल आन्ध्र उच्चारण के साथ प्रस्तुत कर सका था। इसके लिए मुझे कितना परिश्रम करना पड़ा था इससे वह अवगत न था। उसकी आँखों की चमक से स्पष्ट था कि वह इस लोकोक्ति में पूरा विश्वास रखता है। पर मैं चाहता था वह समझ ले कि निकट भविष्य में पुरानी लोकोक्तियों पर जनता का अन्ध-विश्वास क़ायम न रह सकेगा। बहुत-सी लोकोक्तियाँ तो धनियों की बनाई हुई हैं, जिनमें निर्धनों को सन्तोष की शिक्षा दी गई है। यह केवल निर्धनों की क्रांति को दबाये रखने का प्रयत्न था। ऐसी सब लोकोक्तियाँ केवल ऐतिहासिक सामग्री के रूप में ही सामने आया करेंगी। जनता के लिए ये पहले के समान पगडंडियाँ न बनी रहेंगी कि वह बिना देखे पराधीनतावश इन पर चल कर अपनी मंज़िल

से भटकती रहे। मल्लाह बराबर मुस्करा रहा था और मुझे उस पर क्रोध आने की बजाय अपने ऊपर क्रोध आने लगा।

गोदावरी की लहरें तेज़ हवा में खेल रही थीं। उस समय काका कालेलकर के ये शब्द मेरी कल्पना को छूने लगे—"गोदावरी की सारी कला तो भद्राचलम् से ही देखी जा सकती है। जिसका पाट एक से दो मील तक चौड़ा है, ऐसी गोदावरी ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों के बीच में से अपना रास्ता साफ़ करती हुई जब सिर्फ़ दो सौ गज़ की खाई में हो कर निकलती होगी तब भला वह क्या सोचती होगी? अपनी तमाम ताक़त और तरकीब खर्च करके बड़े ही नाजुक मौके में से निकल कर राष्ट्र को आगे ले चलनेवाले किसी राष्ट्रपुरुष के समान संसार को आश्चर्य में डालनेवाली गर्जना के साथ वह यहाँ से निकलती है। घोड़ा-बाढ़ और हाथी-बाढ़ की बातें तो हम सुनते रहे हैं। पर एक दम पचास फुट ऊंची बाढ़ क्या कभी कल्पना में भी आ सकती है? मगर जो कल्पना में सम्भव नहीं है, वह गोदावरी के प्रवाह में सम्भव है। तंग गली से हो कर निकलते हुए पानी को अपनी सतह सपाट बनाये रखना मुश्किल हो जाता है। अर्घ्य देते समय जैसे अंजलि में छोटे मुंह की नाली-सी बन जाती है, वैसे खाई में निकलते हुए पानी की सतह की भी एक भयानक नाली बन जाती है। पर अद्भुत रस का चमत्कार तो इससे आगे है। इस नाली में से अपनी नाव को लेजाने वाले कई हिम्मतवर मल्लाह भी वहां पड़े हुए हैं। नाव के दोनों ओर पानी की ऊंची-ऊंची दीवारों को नाव के ही वेग से दौड़ते हुए देख कर मनुष्य के मन पर क्या बीतती होगी!"

मल्लाह किसी याद में खोया हुआ सा चप्पू चलाये जा रहा था। जैसे वह अपनी किसी भद्राचलम् यात्रा के बारे में सोच रहा हो। उसने एक बार मेरी ओर देखा। जैसे वह कहना चाहता हो—मैं तुम्हें उधर ले चलूंगा किसी दिन। घबराने की क्या आवश्यकता है। भद्राचलम् तो अपना घर ही ठहरा। देवता के दर्शन कर लेना और गोदावरी मैया का वैभव भी देख

लेगा ।

जी चाहता था कि खूब उछलूँ और ज़ोर-ज़ोर से कहकहे लगाऊँ । उस समय मेरी कल्पना में 'बरेया' देवता का चित्र उजागर हो गया था। आज तक किसी ने इस देवता के दर्शन न किये थे । पर उसका ध्यान करते समय हर मल्लाह बड़ी आस्था से सिर झुका लेता था । वह पहाड़ जिसमें से हो कर गोदावरी एक भयानक प्रपात का दृश्य उपस्थित करती बहती चली गई है, 'बरेया कोण्डा' के नाम से प्रसिद्ध है । यह पहाड़ इस देवता का निवास-स्थान है---बरेया कोण्डा अर्थात् बरेया का पहाड़ । गोदावरी मैया के जन्म से बहुत पहले ही इस देवता ने अपना प्रभाव जमा रखा होगा । फिर जब गोदावरी आई तो उसे इस शर्त पर रास्ता दिया गया होगा कि वह अपने मल्लाहों को सदा बरेया के भक्त बनने की प्रेरणा देती रहे। सच पूछो तो उस समय मुझे वह चालीस अंगुल चौड़े सीनेवाला मल्लाह बरेया के रूप में नज़र आ रहा था ।

जन्म-जन्म की मुस्कान मेरी कल्पना के पाताल से बाहर आया चाहती थी । मल्लाह के मुख पर असीम सन्तोष झलक रहा था । जी चाहता था कि वह कोई तान छेड़ दे । अपने इस देवता की भाषा से अपरिचित न होता तो मैं स्वयं उससे कहता कि वह आनेवाली खुशियों के उपलक्ष्य में कोई गान सुनाये । दूर से किसी दूसरे मल्लाह के गाने की आवाज़ पायल की झंकार के समान बहती हुई आने लगी । न जाने वह कैसा गान था । शायद यह नई उषा का नया गान था । मैं मन्त्रमुग्ध-सा हो कर सुनने लगा । उषा का तो ऋग्वेद के ऋषियों तक ने स्वागत किया था । जैसे उषा-सूक्त के स्वर शताब्दियों की निद्रा से जाग उठे हों। उषा आया ही चाहती थी ।

मेरी कल्पना एक बार फिर त्रियम्बक की ओर घूम गई । त्रियम्बक से गंगापुर के प्रपात या अधिक से अधिक नासिक पहुँचने से पहले तक गोदावरी एक कन्या ही तो है जिसका बचपन अभी पूरी तरह बीता न हो । फिर

यह एक युवती का रूप धारण करने लगती है। भद्राचलम् से राज-महेन्द्री तक हम इसे एक दुलहिन के रूप में देख सकते हैं। राजमहेन्द्री के समीप यह दो मील से तो कम चौड़ी न होगी। राजमहेन्द्री से पांच मील पर धवलेश्वर है जहाँ गोदावरी का पाट चार मील हो जाता है, भले ही पाट का तीन चौथाई भाग तीन टापुओं से घिरा हुआ है। ऐसे टापू तो इधर बहुत हैं—कुछ परम्पराओं के समान स्थायी, कुछ नित-नित के स्वांगों के समान बनने-बिगड़ने के अभ्यस्त। प्रत्येक टापू लंका कहलाता है। स्थायी टापुओं पर खेती भी खूब होती है। कहते हैं कि गोदावरी को गोतम ऋषि शिव की जटाओं से निकाल कर लाये थे और प्राचीन काल में यह सात धाराओं में बंट कर सागर में गिरती थी। आज भी परम्पराओं द्वारा अभिनन्दित-तट पर स्थित वे सातों स्थल सात धाराओं की स्मृति दिलाते हैं, भले ही गोदावरी अलग ही दो स्थानों पर सागर में प्रवेश करती है। उन सातों स्थलों पर आज भी अनेक लोग सन्तान-प्राप्ति की कामना से स्नान करने जाते हैं। इसे सप्त-सागर यात्रा कहते हैं। इसके अतिरिक्त हर तेरहवें वर्ष राजमहेन्द्री और गोदावरी के तट पर स्थित दूसरे नगरों में पुष्करम् उत्सव मनाया जाता है, जब शत-शत स्त्री-पुरुष गोदावरी स्नान के लिए उमड़ पड़ते हैं।

एक जनश्रुति यह भी है कि प्राचीन काल में सात ऋषियों ने अपनी असीम शक्ति द्वारा गोदावरी को सात धाराओं में बटने के लिए बाध्य किया था। अब उन ऋषियों को यह श्रेय कोई देना भी चाहे तो कैसे दे। अब तो गोदावरी की केवल दो ही धाराएँ रह गई हैं और वे भी पहले स्थलों से हट कर।

धवलेश्वर तक तो गोदावरी का पूर्व रूप ही नज़र आता है। फिर यहाँ से गोमती गोदावरी या पूर्वी गोदावरी अंजारम, यागाम और निल्लापल्ली को छूती हुई 'प्वाइंट गोदावरी' के स्थान पर सागर में प्रवेश करती है; और

वशिष्ट-गोदावरी या पश्चिमी गोदावरी दक्षिण की ओर बहती है और 'प्वाइंट नरसापुर' के स्थान पर सागर में समा जाती है।

धवलेश्वर में आधुनिक युग के इंजीनियरों ने गोदावरी के चार मील चौड़े पाट पर 'एनीकट' बना कर बड़े-बड़े ऋषियों के चमत्कारों को पीछे छोड़ दिया है और फिर यों पानी को अपने वश में करने के पश्चात् ऐसी-ऐसी नहरें निकाली हैं जिनसे कोई अढ़ाई लाख एकड़ ज़मीन की सिंचाई होती है। विज्ञान के इन ऋषियों को नमस्कार करने को जी चाहता है, जिन्होंने प्यारी धरती की महान् सेवा की है और भूखी जनता के लिए अन्नोत्पादन के नये साधन प्रस्तुत किये हैं।

धवलेश्वर पहुँच कर मैंने मल्लाह को उसकी मज़दूरी के पैसे दे दिये, मुस्करा कर संकेत द्वारा उस से विदा ली और नौका से उतर पड़ा।

गोदावरी मुस्करा रही थी। मैंने कहा—"तुम धन्य हो गोदावरी मैया! तुमने सदा इतिहास को बदलते देखा है, तुमने सदा अपनी विस्तृत जलधारा का गान गाया है।"

गोदावरी के किनारे मैं नई लहरों को गिनने का यत्न कर रहा था। खुली-मुक्त हवाएँ मुझे झंझोड़ रही थीं। वह मल्लाह मेरे समीप से परे जाने का नाम न लेता था। अमीरी-ग़रीबी को एक ही काँवर के दो घड़े मानने के लिए वह बिलकुल तैयार न था और गोदावरी खुश थी।

दीये तो जलेंगे

लाख कोई कहे कि मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है, पर मैं तो यही कहूँगा कि मनुष्य नहीं दीया ही साहित्य का लक्ष्य है। मैं खूब जानता हूँ कि मेरे यह कहते ही हँसी के फव्वारे छूटने लगेंगे। पर इससे क्या बनता बिगड़ता है। मैं अपनी बात कहने से कैसे चूक सकता हूँ?

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी एक कविता में दीये का बहुत सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। अस्त होते सूर्य ने कहा—"क्या कोई है जो मेरे बाद मेरा काम करे?" इस पर दीया बोल उठा—"मैं यत्न करूँगा।" दीये का यही चित्र हमारे सामने रहना चाहिये। उपनिषदकार ने कहा था—"मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो, अँधेरे से ज्योति की ओर ले चलो।" सोचता हूँ, उपनिषदकार ने भी किसी प्रकार दीये का यह चित्र अवश्य देख लिया होगा। निर्वाण-शय्या पर लेटे हुये भगवान् बुद्ध ने कहा था—"अत्तदीपा भवथ, अत्तसरणा भवथ।" अर्थात् आप अपने दीप बनो, आप अपनी शरण बनो। सोचता हूँ, भगवान् बुद्ध ने भी दीये का यह चित्र अवश्य देखा था।

'हौज़ भरा था, हिरण खड़ा था; हौज़ सूख गया, हिरण भाग गया,'

यह भी तो दीये का चित्र है । हँसिये नहीं, बल्कि और सुनिये—'नाज़ुक नारि पिया संग सोती अंग से अंग मिलाय ; पिय को बिछुड़त जानि के संग सती हो जाय ।' यह रही बाती और तेल की पहेली । आप फिर हँस देंगे, पर इसमें हँसने की तो कोई बात नहीं । 'तेली को तेल कुमार को हंडा; हाथी को सूड नवाब को झंडा,'—इस पहेली का भी वही उत्तर है—दीया । पर कहाँ दीये की बाती और कहाँ हाथी की सूंड, और फिर दीपशिखा का नवाब के झंडे से तो दूर का भी सम्बन्ध नहीं ! लाख एतराज़ कीजिये कि पहेली में दीये का चित्र ठीक से नहीं उभरा, पर कोई मानेगा थोड़ ही । याद आ रही है एक और पहेली—'थड़ पर थड़ा, लाल कबूतर खड़ा ।' अर्थात् चबूतरे पर चबूतरा, उस पर खड़ा है लाल कबूतर । जी हाँ, यह जनमन की कल्पना है । वैसे बात साफ़ है, जो दीवट पर रखे दीप्तिमान् दीये को लक्ष्य करके कही गई है । पर आप तो मानेंगे नहीं । अच्छा, और हँस लीजिये । हाँ तो एक और चित्र देखिये—'नभ तें गिरो न भुइँ दयो, जननी जनो न ताहि ; देख उजेला जो कोई भागे, पकरि ले आओ ताहि ।' यह हुआ अँधेरा जो न आकाश से गिरता है, न भूमि से उपजता है, जो न माँ की कोख से जन्म लेता है ।

अच्छा तो मैं समझ गया । पहेली की चर्चा से बात बहुत आगे नहीं बढ़ सकती । तो क्या पहले दीपदान की चर्चा की जाय, जब शत-शत सुकुमारियाँ और गृहदेवियाँ दीये बाल-बाल कर नदी की जलधारा पर तैरने के लिए छोड़ती चली जाती हैं । ये दीये भूली-भटकी आत्माओं का पथप्रदर्शन करेंगे, यह कल्पना सचमुच कितनी सुन्दर है । जी हाँ, दीपदान हमारी संस्कृति का महामहिम चिन्ह है । एक-एक दीये को ध्यान से देखते हुए गृहदेवी इसे जलधारा में दूर तक दीप्ति फैलाने के लिये छोड़ती है । शायद वह सोचती है, जैसे मनुष्य प्रवास को जाते हैं, आज ये दीये भी प्रवास को जा रहे हैं । शत-शत दीये, शत-शत यात्री !

मैं उस विरहिणी की कल्पना करता हूँ, जिसने गाया था—'राजा बारि देबौं चौमुख दियना, त रतिया कटीत होइ है हो'—अर्थात् हे मेरे राजा, मैं चौमुखा दीया बाल लूगी और इस प्रकार रात कट जायगी। मैं सोचने लगता हूं कि क्या यह विरहिणी भी दीपदान में अपनी सखियों के साथ सम्मिलित होगी। जी हाँ, वह यहाँ आयगी तो चौमुखे दीये बाल-बाल कर जलधारा में छोड़ेगी। फिर यत्न करने पर भी इस विरहिणी की कल्पना मन के तार हिलाने से बाज़ नहीं आती। उसने अपने गान में यह भी तो कहा है, 'राजा बुती गइले चौमुख दीयना, त रतिया पहार भइलें हो।' अर्थात् हे मेरे राजा, चौमुखा दीया बुझ गया, रात पहाड़ हो गई। अब मैं दीपदान की हँसती-मचलती सखियों को देखता हूँ तो भला उस विरहिणी को कैसे न देखूं, जिसका चौमुखा दीया बुझ गया और जिसे अँधेरे में निद्रापथ पहाड़ी मार्ग सरीखा ऊबड़-खाबड़ नज़र आ रहा है।

सोचता हूं दीये का कोई एक ही चित्र नहीं। इसका चित्र एक विवाह-गान में भी तो देखा था, जो मुझे कभी नहीं भूल सकता—

कनक-दियट दियना बरै,
दियना बरै है अकास ;
आहो, दूलह-दूलही गज-चौकी !
दूलह के चीरा सोनहला,
जैसे संझा पलास कै टेसू।
आहो, रंगहु न बाबल खीचड़िया !

—'सोने की दीवट पर दीया बल रहा है,
दीया आकाश में बल रहा है ;
अहो, दूल्हा-दुलहन गज-चौकी पर बैठे हैं !
दूल्हे के सिर पर सुनहला चीरा है,
जैसे साँझ के समय पलास के टेसू।

अहो, बाबुल उसे खिचड़ी रंग से रंग दो ना !'

सच-सच कहिए कि यह कन्या, जो गज-चौकी पर बैठ यों बोल सकती है, आधुनिक युग की कन्या से पिछड़ी हुई कैसे हो सकती है। यह कैसा दीया है जो सोने की दीवट पर दीप्तिमान् है। चन्द्रमा के लिए यह उपमा कितनी नूतन प्रतीत होती है। शायद दूल्हे का रंग सांवला था। उसके सिर पर सुनहरी चीरा देख कर दुलहन को सांझ समय पलास के टेसुओं की सुधि आ गई। यदि वह चुप रहती तो बात न बिगड़ती। अब उसने सब बात स्पष्ट कर दी तो दूल्हा बिगड़ उठा। गान की अगली पंक्तियों में दूल्हे को मनाने का यत्न किया जाता है। ससुर ने कहा—"बेटा, पचास हाथी ले लो।" दूल्हा बोला—"मैं हाथी और हौदे का भूखा नहीं।" साले ने कहा—"जीजा, पचास घोड़े ले लो।" दूल्हा बोला—"हमारे यहाँ बहुत से घोड़े हैं।" सास ने कहा—"मानिक की अंगूठी ले लो।" दूल्हा बोला—"मैं अंगूठी का भूखा नहीं।" सलहज ने कहा—"हाथ की बिजायठ ले लो।" दूल्हा बोला—"हमारे यहाँ गहनों से सन्दूक भरे हैं।" साली ने कहा—'जीजा, हमारे पास फूटी कौड़ी भी नहीं है। अपनी स्मृति छोड़ जाओ। प्रेम से जो भेट हम दें उसे स्वीकार करो।" इस पर दूल्हा मान गया। सोचता हूं, उस समय दूल्हे ने दुलहन की सुन्दरता की कल्पना भी अवश्य की होगी। सोने की दीवट पर जलते दीये की ओर आँख भर कर निहार लिया होगा, और सांझ-समय पलाश के टेसुओं से अपने मुख पर सज रही सुनहरी पगड़ी की कल्पना भी उसे अछूती नज़र आने लगी होगी।

एक राजस्थानी गीत में कोई कुलबधू सोने के चौमुखे दीये की कल्पना प्रस्तुत करती है—

सोने से म्हे दिवलो घड़ासियां,
रेसम बाट बटास्यां जी,
च्यार बाट री चौमुख दीवो,

घी सूं म्हे पुरवास्यां जी।
चाँदी रो थाल मेल म्हारो दिवलो
रंगमहल ले जास्यां जी
महीं-महीं बाट, सुरंग म्हारो दिवलो,
रंगमहल जगवास्यां जी !

—'मैं सोने का दीप गढ़वाऊँगी,
रेशम की बाती बटूंगी,
चार बाती का चौमुखा दीया
मैं घी से भराऊँगी।
चाँदी के थाल में अपने दीये को रख कर
रंगमहल में ले जाऊँगी।
महीन-महीन बाती के सुरंगे दीये को
रंगमहल में जलाऊँगी।'

दीये का इतिहास लिखनेवाले के लिये इस राजस्थानी लोकगीत की भावधारा उपयोगी सिद्ध हो सकती है। राजस्थान में आज भी घर-घर में दीये जलते हैं। बिजली के प्रकाश में अभी ये दीये मन्द नहीं पड़ गये। सोने का दीया, रेशम की बाती और दीये में जलाने के लिये घी—यह सब कल्पना है जो कभी पूरी नहीं होती। अन्य जनपदों में भी तो ऐसे गीत मिल जायँगे जिनमें महत्त्वपूर्ण कल्पना-सामग्री उपलब्ध हो सके। मज़ेदार बात तो यह है कि दीया बुझ-बुझ कर फिर से जल उठता है। दीये से दीया जलाने की झाँकी तो सर्वदा मिलेगी। लोकगीतों में कहाँ-कहाँ दीये जल रहे हैं, इसकी सूची तैयार की जाय तो एक अच्छी-खासी पुस्तक तैयार हो सकती है। पर इतना समय कहाँ है? दीया कहीं भी तो उपेक्षित नहीं रहा। यदि समूचे साहित्य में दीये की महिमा का अनुसंधान किया जाय तो शायद इतनी सामग्री मिल जाय जिससे एक ग्रन्थ-माला ही प्रस्तुत की जा

सके। पर किससे कहा जाय कि और सब कार्य छोड़ कर पहले इसी में हाथ डाल लो? लगे हाथों रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उर्वशी की चर्चा तो आवश्यक जान पड़ती है, जिसकी आरम्भिक पंक्तियों में कवि ने दीये को नहीं भुलाया था—

न हो माता, न हो कन्या, न हो वधू, सुन्दरी रूपसि,
हे नन्दनवासिनि उर्वशी।
गोष्ठे जबे सन्ध्या नामे श्रांतदेहे स्वर्णांचल टानि,
तुमि कोनो गृह-प्रान्ते नाहि जाल सन्ध्यादीप खानि,
द्विधाय जड़ित पदे, कम्प्रवक्षे, नम्र नेत्रपाते,
स्मितहास्ये नाहीं चलो सलज्जित वासरशय्या ते
स्तब्ध अर्द्ध-राते।
ऊषार उदय सम अनवगुंठिता तुमि अकुण्ठिता।

—'न तुम माता हो, न कन्या हो, न वधू हो, सुन्दरी रूपवती,
हे नन्दनवासिनी उर्वशी।
जब ग्राम की चरागाह में सन्ध्या थकी देह पर
सोने का आँचल खींच कर उतरती है,
तुम किसी घर के कोने में सन्ध्यादीप नहीं जलातीं।
न संकोचवश विजड़ित पैरों से, काँपते वक्ष से, आँखें झुकाए,
मन्द-मन्द हँसते हुए प्रिय की सेज की ओर सलज्ज जाती हो,
आधी रात के सन्नाटे में।
ऊषा के उदय के समान तुम्हारा घूंघट सदा खुला रहता है।
तुम अकुंठित हो।'

इसी कविता में एक और स्थल पर कवि बड़ी उत्सुकता से उर्वशी से पूछता है—

मणिदीपदीप्तकक्षे समुद्रेर कल्लोल-संगीते

अकलंकहास्यमुखे, प्रवाल-पालंके घुमाइते कार अंकटीते ?

जखनि जागिले विश्वे, यौवन-गठिता, पूर्णप्रस्फुटिता ।

—'मणि दीपों से दीप्तिमान् भवन में समुद्र का कल्लोल-संगीत सुनते हुए,
निष्कलंक मुख से हँसते हुए प्रवाल पलंग पर तुम सोती थीं, किसके अंक में ?
इस विश्व में तुम जागीं तो तुम यौवन-गठिता थीं, पूर्ण-प्रस्फुटिता थीं ।'

अब आप ही बताइये कि रवीन्द्रनाथ ने दीये की चर्चा द्वारा उर्वशी के चित्रांकन में कितनी सफलता प्राप्त की है । जैसे जाल में जल नहीं बंध पाता, ऐसे ही हम देखते हैं कि कवि उर्वशी का चित्र अंकित करने के समय शब्दों में उसे बाँधने का यत्न कर रहा है । पर उर्वशी तो न माता है, न कन्या, न वधू । फिर वह क्या है ? उर्वशी को सन्ध्या-दीप नहीं जलाना पड़ता, यह कह कर कवि सचमुच एक बहुत बड़ी बात कह देता है । ग्राम में तो माता, कन्या, वधू, सभी को दीप जलाना पड़ता है। कवि की कल्पना उसे कहीं से कहीं ले जाती है । मणि-दीप-दीप्त भवन में उर्वशी समुद्र का कल्लोल-संगीत सुना करती थी—यह कलाकार की रंग-तूलिका का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्पर्श है । फिर तो जैसे जाल में जल को बाँधने में सफलता मिल जाय, कवि को उर्वशी का चित्र प्रस्तुत करने में कुछ भी कठिनाई नहीं हुई । जैसे हम उर्वशी को पहचान रहे हों और मुक्त कंठ से यह कहने के लिये लालायित हो उठे हों—हमारे धारावाहिक साहित्य में तेरे मणि-दीप-दीप्त भवन का चित्र सदैव आनेवाली पीढ़ियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता रहेगा, हे उर्वशी ।

मुझे मालूम नहीं कि मोहिंजोदड़ो की खुदाई से दीये के इतिहास पर भी

थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ा है या नहीं। पांच हज़ार वर्ष पुरानी इस नगरी में लोग अंधेरे में थोड़े ही रहते होंगे। सुना है कि वहाँ तो उन दिनों संगीत और नृत्य का भी खासा प्रचार था। अंधेरे में गाया भले ही जा सके, अंधेरे में नाचने की बात तो जँचती नहीं है। यों भी तो लोगों को अपने-अपने घरों को दीप्तिमान् करने की आवश्यकता पड़ती होगी। सुना है कि वहाँ के निवासी दूर-दूर तक समुद्री व्यापार के लिए जाया करते थे। तब तो उन नौकाओं को प्रकाश-स्तम्भों की भी आवश्यकता पड़ती होगी। प्रकाश-स्तम्भों की बात छोड़िये। मैं तो सचमुच एक नन्हे से दीये की बात सोच कर ही रह जाता हूं, जिसके प्रकाश में बैठी कोई कुलवधू अपने प्रियतम की बाट जोहती होगी। प्रियतम समुद्र पार से लौट कर आये और फिर इस मधु-मिलन के आनन्द में गली-मुहल्ले में एक-आध नृत्य अवश्य हो जाय। नृत्य की रंगभूमि पर तो एक साथ कई-कई दीये जगमग-जगमग कर उठते होंगे। कैसे कोई कहेगा कि मोहेंजोदड़ो में दीये नहीं जलाये जाते थे या दीये का कोई भी गीत नहीं गाया जाता था? मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि मोहेंजोदड़ो में दीयों की आरती भी उतारी जाती होगी, बल्कि दीपनृत्य भी उन लोगों ने अवश्य सीख लिया होगा। 'सीख लिया होगा' जानबूझ कर कह रहा हूं। अब तो यह सिद्ध किया जा चुका है कि मोहेंजोदड़ो की संस्कृति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। फिर तो यह भी मानना ही पड़ेगा कि यह संस्कृति कोई पूर्व इतिहास अवश्य रखती होगी। कैसे कहूँ कि मोहेंजोदड़ो के दीप-नृत्य में चौमुखे दीप भी जल उठते थे? यह भी तो हो सकता है कि जब कोई बड़ा व्यापारी बहुत वर्षों बाद मोहेंजोदड़ो में लौटता होगा तो इस खुशी में गली गली में, बल्कि एक-एक बाज़ार में छतों और झरोखों पर दीप जला कर रखे जाते हों। इस पर शायद कोई मुझे टोक दे और कहे—वाह साहब, दीपमाला की परम्परा को आप मोहेंजोदड़ो से कैसे मिला रहे हैं? दीपमाला तो सर्वप्रथम वनवास के पश्चात् राम के अयोध्या लौटने पर ही

मनाई गई थी ? पर मेरा मन यह नहीं मानता। मैं तो दीपमाला के इतिहास को रामायण-काल से बहुत पहले का मानता हूँ। जब भी किसी युद्ध में विजय प्राप्त होती होगी, तब खुशी में दीये जलाये जाते होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। देवताओं के सामने दीयों की आरती उतारने की परम्परा तो उससे भी पहले की होगी। आज भी कहीं-कहीं विवाह के अवसर पर वर की आरती दीयों से उतारते हैं। जब भी कोई नया राजा सिंहासन पर बैठता होगा, उसकी आरती भी दीयों से अवश्य उतारते होंगे। दीप-नृत्य भी इसी दीप-आरती का ही विकसित रूप प्रतीत होता है।

दीये से सम्बन्धित नाना जातियों में क्या-क्या विश्वास पाये जाते हैं, उनकी परम्पराओं में इसे किस-किस शक्ति अथवा प्रतिभादीप्ति का प्रतीक माना है, इसकी सूची मैं तैयार नहीं कर सका। पर इतना तो कह सकता हूँ कि 'जले दीया बाती' की भावना सुख और सतत समृद्धि की प्रतीक है। याद नहीं आ रहा है कि किसी ने एक बार दीवाली के दीयों को सम्बोधित करते हुए कहा था—'हम तो तुम्हारे बिना ही अच्छे थे, जब अंधेरे ने हमारी नग्नता को ढाँप रखा था; अब तुम्हारे प्रकाश में हम सकुचा रहे हैं।' पर आज सोचता हूँ कि हम इतने नग्न नहीं हैं कि दीयों से संकोच अनुभव करें।

मणिपुर

डीमापुर से इम्फाल तक एक सौ चौंतीस मील की यात्रा बहुत मनोरंजक रही। नागा पहाड़ियों में नागा लोग देखने को मिले। नई सभ्यता के मुख पर सुर्खी पाउडर की चमक बहुत देखी थी। अनगिनत शताब्दियों से चले आनेवाले सरल, अकृत्रिम और निखरे हुए जीवन को अपनाये रखने वाले आदिवासी कई बार मेरी यात्रा को छू-छू गये थे। पर नागा लोगों को देखे बिना मेरा मानसिक क्षितिज कितना बेरंग रहता यह अनुभव होते देर न लगी।

लारी के सिक्ख ड्राइवर ने बताया कि नागा लोगों के जातीय नृत्य उनकी युद्धप्रिय परम्पराओं के परिचायक हैं। समय उड़ा जाता था और सभ्यता लम्बी छलांगें लगाने पर मजबूर थी। पर नागा लोग बहुत पीछे रह गये थे। मैंने सोचा कि कोई ऐसा आन्दोलन आरम्भ होना चाहिए जिससे आदिवासियों को समय के साथ पग मिला कर चलने का ध्यान दिलाया जाय और इस प्रकार वे भी भारत के बराबर के भागी बन सकें। वे आखिर नंग-धड़ंग रहने पर क्यों मजबूर हों? उनके विकास के बिना हमारा विकास न

केवल अधूरा है, बल्कि हास्यास्पद भी। और फिर सहसा मेरी कल्पना की सुई भविष्य की ओर घूम गई, जब भारतीय सेना में नागा सैनिक अपनी महान् सेवाएं प्रस्तुत करेंगे।

लारी ड्राइवर कह रहा था—"यह सड़क मुझे खूब जानती है। अपनी जन्मभूमि पंजाब से बहुत दूर मैंने उठती जवानी के दिन खुश हो कर इधर ही गुज़ार दिये। अब मैं वापस न जाऊँगा। अब यह सड़क मुझे छोड़ेगी नहीं। अच्छा हो आप भी इधर के ही हो कर रह जायें—इधर के ही।"

सामने की सीट पर बैठे-बैठे मैंने ड्राइवर की मादक आँखों में मणिपुर का रंगीन चित्र देख लिया।

नागा युवतियों का बेलाग सौंदर्य उसे वरमाता रहता था। मणिपुरी युवतियों की मुखमुद्रा अलग उसके लिए आकर्षण रखती थी। और अभी तक वह कोई निर्णय न कर सका था।

वह कह रहा था—"आप ही बताइये। बिना पिये मैं लारी नहीं चला सकता। नित-नित मन डोल जाता है।"

"यह कैसे सरदार जी?" मैंने झट पूछ लिया।

उसने झट उत्तर दिया—"वह ऐसे कि मन अभी किसी जगह टिक नहीं पाया।"

"तो एक बार पंजाब हो आइये", मैंने शह दी, "शायद वहां कोई दुलहन मिल जाय।"

"अजी नहीं," उसने लारी को तेज़ करते हुए कहा, "अब पंजाब बहुत पीछे छूट गया है। अब तो यह मणिपुर की सड़क ही मेरे सपनों को झंझोड़ सकती है।"

मैंने अवसर पा कर कहा—"यह पी कर लारी चलाने की आदत तो बहुत भयानक है, सरदार जी। इस तरह तो आप अनेक सवारियों की जान को अपनी मुट्ठी में लेकर चलते हैं। सरदार जी, न जाने कब आपका मन डोल

जाय और स्टीयरिंग बेकाबू हो जाय।"

सरदार जी की आँखें चमक उठीं। उन्होंने जैसे लारी को एक नर्तकी के समान नचाते हुए कहा—"इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि किसी मणिपुरी या नागा युवती से शादी करके उसकी आँखों में अपने सपनों को पहचान लूं। फिर शायद इस अंगूर की बेटी की शरण लेने की ज़रूरत न रहे।"

आसाम में दो तीन बार कुछ मणिपुरी युवतियों से मेरा परिचय हो चुका था। और अब रास्ते में झट से नागा युवतियों के झुरमुट आँखों के सामने से निकल जाते थे। मैंने कहा—"सरदार जी, मन का तो काम ही है डोल जाना। आपकी जगह मैं होता तो ज़रूर किसी नागा लड़की के हाथों में अपना जीवन सौंप देता। क्योंकि मेरी तो यही राय है कि हमारा राष्ट्रीय विकास सदा से विभिन्न रक्तों के सम्मिश्रण का ऋणी है। अब यदि कोई कहे कि मेरी रगों में प्राचीन आर्य रक्त दौड़ रहा है तो इसका क्या प्रमाण? बार-बार हमारे देश में न जाने कितनी जातियाँ आईं। हर बार न केवल रणभूमि में मित्र और शत्रु के रक्त एक साथ बहने लगते थे, बल्कि शांतिपूर्ण और आत्मिक आह्लाद के अवसरों पर भी, जो प्रायः आते ही रहते थे, आक्रमणकारी जाति के सैनिक सदा के लिए किसी युवती या स्त्री को अपने प्रेम का प्रमाण देने को बाध्य हो जाते थे। मैं स्वयं अपनी रगों में अनेक जातियों का रक्त दौड़ता अनुभव करता हूँ। हाँ तो सरदार जी, किसी नागा लड़की से विवाह करने का मतलब होगा दो महत्त्वपूर्ण रक्तों का सम्मिश्रण।"

लारी भागी जाती थी। ड्राइवर की आँखें और भी मादक हो उठीं। प्राचीन मणिपुर की राजकुमारी चित्रांगदा की कहानी उसे याद थी। महाभारत के यशस्वी वीर अर्जुन से वह किसी प्रकार कम न था, जिसे अपनी जन्मभूमि के एक सघन वन में तपस्या करते देख कर चित्रांगदा प्रथम दृष्टि में ही अपना हृदय खो बैठी थी। अर्जुन मानता न था और चित्रांगदा ने

कहा था—नारी का अपमान मत करो, ओ दूर देश के वीर ! तुम्हारे जैसे एक और अर्जुन को जन्म दे कर मैं उसे तुम्हारे साथ खड़ा कर दूँगी । अन्तर केवल इतना ही था कि सरदार जी किसी मणिपुरी चित्रांगदा के स्थान पर एक नागा चित्रांगदा की बाट जोह रहे थे ।

बातों-बातों में काफी रास्ता कट गया । नागा पहाड़ियाँ खत्म हुई तो मणिपुर की उपत्यका ऐसी नज़र आती थी जैसे किसी ने नक़शा फैला रखा हो । ड्राइवर कह रहा था—"बीस मील और समझिये, फिर हम इम्फाल पहुँच जायँगे ।"

मैंने कहा—"ले देकर मणिपुर में एक ही तो नगर है—इम्फाल । हाँ याद आ गया, सरदार जी, मैंने कहीं पढ़ा था कि इम्फाल का क्षेत्रफल कोई पन्द्रह वर्ग मील होगा । मैंने यह भी पढ़ा था कि मणिपुर राज्य में कोई चौदह सौ गाँव होंगे—पांच सौ उपत्यका में और कोई नौ सौ पहाड़ियों में । हाँ मैंने यह भी तो पढ़ा था कि इम्फाल के समीप से दो नदियाँ बहती हैं—थोबल और इम्फाल, जिससे राजधानी ने अपना नाम प्राप्त किया है । हाँ तो इम्फाल को राज्य का इतिहास खूब याद होगा, सरदार जी ! लहू से रंगा हुआ लाल इतिहास । न जाने कितनी बार यहाँ बर्मी आक्रमणकारी आये और कत्लेआम शुरू हो गया । न जाने कितनी बार मणिपुरी वीरों ने बर्मा से बदला लेते-लेते अपनी जानें गवाईं । इसके अतिरिक्त सिंहासन के लिए कई बार पुत्र ने पिता के लहू से हाथ रंग लिये, कई बार भाई ने भाई को मार डाला और वह भी धोखे से ।"

ड्राइवर का नशा उतर रहा था । बोला—"ज़रूर याद होगा इम्फाल को मणिपुर का लाल इतिहास । पर अब तो शान्ति का समय है । पोलीटिकल एजेन्ट की आज्ञा सब को स्वीकार है ।"

मैंने कहा—"सरदार जी, मणिपुर की तीस मील लम्बी और बीस मील चौड़ी उपत्यका अपने चेहरे से लहू के दाग़ अभी तक दूर न कर सकी होगी ।

यह और बात है कि इतिहास को अपने खूनी पृष्ठ दोहराने की अब और आवश्यकता नहीं। मणिपुर का जलवायु साल भर सुहावना रहता है। सौन्दर्य और प्रेम की इस उपत्यका के लोकगीतों ने मुझे इतनी दूर से खींच लिया। हाँ सरदारजी, आपने तो ये गीत बहुत सुने होंगे।"

सरदारजी ने अजब खिलंदड़ेपन से कहना शुरू किया—"खम्बा और थोइबी की प्रेम-गाथा मणिपुरी लोकगीतों में बार-बार गाई जाती है। घुमक्कड़ गायक के मुख से इसे सुन कर हर किसी की आँखों में आँसू आ जाते हैं।

मैंने कहा—"तो यह गाथा कई शताब्दियाँ पहले की होगी, सरदारजी?"

"जी हाँ", सरदारजी ने आँखें झपझपाते हुए कहा, "कई शताब्दियाँ पहले की। थोइबी एक राजकुमारी थी। खम्बा निर्धन था पर सचमुच एक असाधारण सुन्दर नवयुवक। थोइबी स्वयं भी तो अपने समय की एक प्रसिद्ध सुन्दरी थी। उसे एक झील में नौकाविहार करते देख कर खम्बा पहली ही दृष्टि में उसे हृदय दे बैठा। पर सदा के समान प्रेम का पथ यहाँ भी कठिन हो उठा। कौंगनेकबा नामक एक व्यक्ति खम्बा से ईर्ष्या करने लगा और उसने स्वयं थोइबी को भगा ले जाने के यत्न में खम्बा को बड़ी-बड़ी मुसीबतों का सामना करने पर मजबूर कर दिया। खम्बा हर आज़मायश में पूरा उतरा और आखिर थोइबी को प्राप्त करने में सफल हो गया। पर थोइबी को भी कई-कई मुसीबतों में से गुज़रना पड़ा। क्योंकि खम्बा को अपनी प्रेयसी पर सन्देह हो गया।"

सरदार जी ने यह भी बताया कि बहुत से मणिपुरी गीत इकतारे पर गाये जाते हैं, जिसे मणिपुरी भाषा में 'पेना' कहते हैं। पेना में लोहे या पीतल का तार नहीं बल्कि घोड़े का बाल लगाया जाता है। गायक स्वर छेड़ता है और धीरे-धीरे गीत के शब्द सुनने वालों के दिल के पाताल तक उतरते चले जाते हैं।

अध्ययन-कक्ष में

मेरे अध्ययन-कक्ष में अभी उस दिन एकदम एक अपरिचित महोदय आ निकले। पहले तो मैं बहुत घबराया कि व्यर्थ ही बहुमूल्य समय नष्ट हो जायगा। पर यह सोच कर कि एक नये व्यक्ति का स्वागत तो होना ही चाहिए मैंने उसे बैठने को कहा। पर मैं देर तक उस क्षण की बाट जोहता रहा, जब वह मेरे अध्ययनकक्ष को छोड़ कर चला जाय और मुझे थोड़ा काम करने दे।

उसने छूटते ही पूछ लिया—"ढेर की ढेर पुस्तकें यहाँ किधर से चली आती हैं?"

उसका प्रश्न मुझे अच्छा तो भला कैसे लग सकता था। क्योंकि इतना तो स्पष्ट था कि वह मेरे पुस्तक-संग्रह को मुफ्त का माल समझ रहा था। अपनी झुंझलाहट पर अधिकार पाते हुए मैंने कहा—"अजी साहब, आप को शायद विश्वास नहीं आयगा कि मैं पुस्तकों की दुकानों पर जाने के लिए कितना आकुल रहता हूँ। कोई नई पुस्तक देखी नहीं और मन ललचाया नहीं। जेब में पैसा हो न हो, मन तो कहता है उधार ही कर लो। बस इस तरह पुस्तक पर पुस्तक आती चली जाती है। अब साहब इन पुस्तकों को

आराम से रखने की फ़िक्र भी ज़रूरी है। कहाँ तक कोई अलमारियों का प्रबन्ध करता रहे। बस पुस्तकें हैं कि यही कहती नज़र आती हैं—अब जब हम इस घर में आगई तो हमारे लिये जगह का प्रबन्ध करो। कोई-कोई पुस्तक तो यह कहती नज़र आती है—तुम इस घर में रहो या न रहो, हम अवश्य रहेंगी। बस साहब पहले उन्हीं की फ़िक्र करनी पड़ती है।''

यह लम्बा वक्तव्य सुन कर भी उस की तसल्ली न हुई। वह तो शायद अब तक यही सोच रहा था कि यह मुफ्त का माल है। बात का रुख बदलते हुए वह बोला—''मेरी यह आदत बिलकुल नहीं कि एक साथ दो पुस्तकें माँगू। मैं बस एक ही पुस्तक माँगता हूं और उसी में रम जाता हूँ। इसे लौटा दिया और फिर दूसरी पुस्तक मांगने की बारी आती है।''

मैंने कहा—''क्षमा कीजियेगा। मैं इन पुस्तकों को सम्भाल कर रखने के सम्बन्ध में कितना ही कष्ट क्यों न उठाता रहूँ, पर इन्हें अपने से अलग करना मुझे बिलकुल नापसन्द है।''

इस पर भी वह बराबर हँसता रहा। बोला—''एक आध पुस्तक लिये बिना तो अब मैं यहाँ से हिलने का नहीं।''

मैं समझ गया कि आज खैर नहीं। मेरे सामने अब एक ही उपाय रह गया था, और वह यह कि उसे अपनी बातों में उलझाये रखूं।

सामने मेज़ पर एक छोटी-सी पुस्तक पड़ी थी। वह इसे उठा कर देखने लगा। यह श्री रंगनाथ दिवाकर की नई पुस्तक थी—'गांधीजी : जैसा मैंने देखा।'

इस पुस्तक की चर्चा करते हुए मैंने कहा—''मैं अभी अभी यह पुस्तक पढ़ रहा था। प्रथम अगस्त १९२० का उल्लेख करते हुए लेखक ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि किस प्रकार उस दिन गांधीजी ने सरकार से असहयोग का सराहनीय निश्चय किया था। विधि का विधान देखिये, उसी दिन बम्बई में लोकमान्य तिलक चल बसे। गांधी जी झुककर अर्थी को उठाने

लगते हैं तो कोई उन्हें रोकने की कोशिश करता है। गांधीजी एक क्षण रुक-कर कह उठते हैं—सार्वजनिक कार्यकर्त्ता जाति नहीं जानते। वे फिर झुकते हैं और अब किसकी हिम्मत हो सकती है कि उन्हें लोकमान्य तिलक की अर्थी को कन्धा देने से रोके। आगे चल कर तो मुसलमान भी अनेक बार अर्थी को कन्धा देते हैं। अक्तूबर १६२० में श्री दिवाकर ने गांधीजी को धारवाड़ स्टेशन पर रेल से उतरते देखा, सिर का मुडासा गायब था। वे धोती के ऊपर केवल कुरता पहने थे और सिर पर एक टोपी थी, जो आज सर्वत्र गांधी टोपी के नाम से सम्मानित है। उनकी प्रेरणा से श्री दिवाकर ने अपने साथियों के साथ मिल कर धारवाड़ में राष्ट्रीय स्कूल खोला जिस में वे स्वयं पढ़ाने लगे। १६२१ में श्री दिवाकर ने अहमदाबाद में गांधीजी को देखा कुरता टोपी धोती सब गायब। बस दुबले-पतले नंगे बदन पर एक लँगोटी रह गई। यहाँ कांग्रेस-अधिवेशन पर गांधीजी के भाषण का बस इतना ही सारांश था—"हमें संगीनों के सामने और गोलियों की बौछार में आगे बढ़ना होगा।" १६२४ में श्री दिवाकर राजद्रोह के जुर्म में यरवदा जेल में सजा भोग रहे थे। इसी जेल में गांधीजी भी आ गये। शुरू में जेल सुपरिन्टेन्टडेन्ट ने सभी राजनीतिक क़ैदियों को गांधीजी के साथ यूरोपियन वार्ड में रख दिया। इससे क़ैदी तो खुश हुए, पर सुपरिन्टेन्डेन्ट ने होम मेम्बर की आलोचना से भयभीत होकर अगले ही दिन क़ैदियों को उनकी पुरानी कोठरियों में भेज दिया। फिर दिसम्बर १६२२ की चर्चा की गई है जब श्री दिवाकर की रिहाई का दिन करीब आ पहुँचा और वे बाहर जाने से पहले गांधीजी से भेंट करने को उत्सुक हो उठे। इस भेंट की गाथा लेखक के शब्दों में ही पढ़ें तो वास्तविक रस आ सकता है। फिर श्री दिवाकर ने १६२४ में गांधीजी के दर्शन किये, जब वे बेलगांव कांग्रेस-अधिवेशन के प्रधान चुने गये और पहले पहल झंडा-अभिवादन का श्रीगणेश हुआ। मैंने यह भी बता दिया कि इस पुस्तक का सर्वोत्तम अध्याय है 'भारत-छोड़ो', जिसमें लेखक ने एक

सफल कलाकार की तरह तूलिका के हल्के स्पर्शों द्वारा एक सजीव चित्र प्रस्तुत किया है।

वह बराबर इस पुस्तक के पन्ने पलटता रहा। मैं कहना चाहता था कि भले आदमी, यही बात है न कि तुम्हें यह पुस्तक पसन्द है। हाँ तो अभी फैसला कर लो कि बाज़ार से आज ही यह पुस्तक खरीद लोगे। ऊपर से मैंने इतना ही कहा—"यह पुस्तक अभी अभी प्रकाशित हुई है, और फिर यह बहुत मँहगी भी तो नहीं।"

वह कुछ न बोला। बस सामने से मुस्कराता रहा। सचमुच उसकी नीयत तो इस पुस्तक की यही प्रति हथियाने की थी।

पास के मेज़ पर से मैंने एक और पुस्तक उठाकर उसे दिखाई। यह थी डा० सुशीला नैयर की रचना—'बा'। अपने नई-नई पुस्तकों के इस प्रेमी का ध्यान आकर्षित करते हुए मैंने इस पुस्तक में से एक मार्मिक क्षण का चित्रण पढ़ कर सुनाना आरम्भ कर दिया—

> एक बार बा और बापू ट्रेन में सफ़र कर रहे थे। जब जबलपुर मेल कटनी स्टेशन पर पहुँचा तो वहाँ दूसरे स्टेशनों से बिलकुल अलग एक जयनाद सुनाई पड़ा—"माता कस्तूरबा की जय!" बा को सहज ही इससे थोड़ा अचम्भा हुआ। उन्होंने खिड़की की राह मुंह बाहर निकाल कर देखा तो सामने हरिलाल भाई खड़े थे।
>
> एक ज़माने का तन्दुरुस्त शरीर बिलकुल जर्जर हो गया था। अगले दांत सब गिर गये थे। कपड़े बिलकुल फटे हुए। खिड़की के पास आकर उन्होंने अपनी जेब से झटपट एक मोसंबी निकाली और कहा, "बा, यह तुम्हारे लिए लाया हूँ।"
>
> इसके पहले कि बा जवाब में कुछ कहें, बापूजी खिड़की के पास पहुँचे। उन्होंने पूछा, "मेरे लिए कुछ नहीं लाया?"

हरिलाल भाई ने कहा, "नहीं, यह तो बा के लिए ही लाया हूँ। आपसे तो सिर्फ यही कहना है कि बा के प्रताप से आप इतने बड़े बने हैं।"

"इसमें तो कोई शक ही नहीं। लेकिन क्या तू अब हमारे साथ चलेगा ?"

"नहीं, मैं तो बा से मिलने आया हूँ।"

बापू वापस अपनी जगह पर जाकर बैठ गये। माँ बेटे की बात-चीत आगे चली :

"लो बा, यह मोसंबी।"

"कहाँ से लाया ?"

"कहीं से भी लाया होऊँ। तुम्हारे लिए प्रेमपूर्वक लाया हूँ, भीख माँग कर।"

बा ने मोसंबी अपने हाथ में ले ली; लेकिन हरिलाल भाई को इससे पूरा सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा, "बा, यह मोसंबी आप ही को खानी है। आप न खाएँ तो मुझे वापस दे दें।"

"रहं-रह, यह मोसंबी मैं ही खाऊंगी।" कुछ देर तक उनको एकटक निरखने के बाद बा फिर बोलीं, "तू अपने हाल को देख। ज़रा यह तो सोच कि तू किन का लड़का है! चल, हमारे साथ चल!"

वे बोले, "इसकी तो बात ही न करो बा! मैं अब इस हालत से उबर नहीं सकता।"

बा की आँखें छलछला आईं। गार्ड ने सीटी दी। ट्रेन चली। चलते-चलते हरिलाल भाई ने फिर कहा, "बा, मोसंबी को तुम ही खाना, भला।"

> जब गाड़ी ज़रा आगे बढ़ी तो बा को अचानक याद आई कि उन्होंने तो उनको कुछ भी नहीं दिया। बोलीं, "अरे, बेचारे को फल-वल कुछ भी नहीं दिया। भूखों मरता होगा। देखूं, अब भी कुछ दे सकूं तो...."
>
> डलिया में से फल निकाल कर बाहर देखा तो ट्रेन प्लेटफार्म पार कर चुकी थी।
>
> दूर पर एक क्षीण आवाज़ सुनाई पड़ी, "माता कस्तूरबा की जय।"

जब मैं 'बा' से यह लम्बा उल्लेख सुना चुका तो मैंने उसकी ओर ध्यान से देखा। उसने पहली पुस्तक परे रख दी और मेरे हाथ से 'बा' की प्रति ले कर उसने पन्ने पलटना शुरू कर दिया। मैं जानता था कि न वह कभी पहली पुस्तक खरीदेगा, और न अब वह 'बा' की प्रति खरीदने की बात ही सोच सकता है।

अब मैं सोचने लगा कि 'बा' की रक्षा कैसे करूँ। बस मैं पास के मेज़ से एक पत्रिका का अंक उठा कर उसके पृष्ठ पलटने लगा और मैंने उसका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—"देखा आपने?"

"क्या?" वह चौंक कर कह उठा।

मैंने कहा—"इस पत्रिका में 'वन्दे मातरम्' गान के यशस्वी कवि स्वर्गीय बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की लेखनी का महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रकाशित हुआ है, जिसमें हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने की चर्चा की गई है। लीजिए, अब लगे हाथों इसे भी सुन लीजिए—

'इंग्रेजी भाषा द्वारा याहा हउक किन्तु हिन्दी शिक्षा न करिले कोनो क्रमेई चलिबे ना। हिन्दी भाषाय पुस्तक ओ वक्तृता द्वारा भारतेर अधिकांश स्थानेर मंगल साधन करिबेन। केवल बांगला ओ इंग्रेजी चर्चाय हइबे ना। भारतेर अधिवासीर संख्यार सहित तुलना करिले बांगला ओ इंग्रेजी कय जन

लोक बोलिते या बूझिते पारेन ? बांगलार सदृश हिन्दीर उन्नति हइतेछे ना, इहा देशेर दुर्भाग्येर विषय। हिन्दी भाषार साहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये याहारा ऐक्य बंधन संस्थापन करिते पारिबेन ताहाराई प्रकृत भारत-बंधु नामे अभिहित हइबार योग्य। सकले चेष्टा करुन, यत्न करुन, यत दिन परेइ हउक मनोरथ पूर्ण हइबे।' ...अर्थात अंग्रेजी भाषा के द्वारा जो भी हो किंतु हिन्दी शिक्षा के बिना किसी भी प्रकार नहीं चलेगा। हिन्दी भाषा में पुस्तक रचना और वक्तृता के द्वारा भारत के अधिकांश स्थानों का मंगल-साधन होगा। केवल बंगला और अंग्रज़ी की चर्चा से यह सब न होगा। भारत के अधिवासियों की संख्या से तुलना करने पर बंगला या अंग्रेज़ी को कितने लोग बोल या समझ सकते हैं ? यह देश का दुर्भाग्य है कि बंगला की भांति हिन्दी की उन्नति नहीं हो रही है। हिन्दी भाषा की मदद से भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों के बीच एकता स्थापित कर सकने वाले ही 'भारतबन्धु' नाम से पुकारने योग्य हैं। हम सब मिल कर चेष्टा करें, यत्न करें, चाहे कितने दिन लग जायें अन्त में यह मनोरथ पूर्ण होगा......हाँ, तो देखा आपने कि हमारी राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में स्वर्गीय बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की क्या राय थी।"

इसके उत्तर में उसने कहा—"अब जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान ही लिया गया तो ख्वाह-म-ख्वाह का वाद-विवाद व्यर्थ है। कोई और चीज़ दिखाइए।"

मैं तो इस भय से सहमा जा रहा था कि उसकी निगाह किसी बड़ी और बहुमूल्य पुस्तक पर न पड़ जाय। क्योंकि मैं अपने अध्ययन-कक्ष से आज किसी भी पुस्तक को विदा लेते नहीं देखना चाहता था।

मुझे एक नया उपाय सूझ गया। मैंने उछल कर कहा—"अब 'बा' को भी परे रख दीजिए। मैं आपको इससे भी बढ़िया चीज़ दिखाता हूँ।"

बढ़िया चीज़ का नाम सुन कर उसकी आँखें मचल उठीं। मैंने रंग जमाते

हुए कहा—"आज मैं आपका परिचय एक प्रसिद्ध लद्दाखी लोकगीत से कराने जा रहा हूं। हाँ तो पहले यह समझ लीजिए कि लोकगीत किसी भी प्रदेश के अतीत और वर्तमान के बीच की सीमा-रेखा के प्रतीक होते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लोकगीत के दर्पण में हम किसी प्रदेश के भविष्य की झलक भी पा लें, क्योंकि लोकगीत की आधारभूत भावनाएं शाश्वत होते हुए भी परिवर्तनशील जीवन के प्रति नतमस्तक होने में ही वास्तविक आनन्द की अनुभूति प्राप्त करती हैं। लद्दाख के इस लोकप्रिय गीत में हमें उस युग का एक सजीव चित्र देखने को मिलता है, जब सर्वप्रथम भारत से बौद्ध धर्म का प्रसार करने वाले कर्मठ भिक्षु लद्दाख में पहुँचे थे।"

वह बोला—"हाँ तो अब यह लम्बा व्याख्यान रहने दीजिए और वह गीत सुनाइए।"

मैंने कहा—"ज़रा बाहर चलिए। यहाँ तो ऊँची आवाज़ से गाना ठीक न होगा।"

वह उठ कर खड़ा हो गया।

हम साथ के पार्क की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँच कर मैंने एक खाली बैंच पर उसे अपने पास बिठाते हुए कहा—"उस गीत की मूल लिपि तो पीछे छूट गई।"

"क्या कह रहे हैं आप? अजी आपको तो बीसियों गीत ज़बानी याद होंगे।"

मैंने कहा—"यह बात तो नहीं। पर खैर मैं तो अब और किसी गीत की चर्चा कर ही नहीं सकता। आप कहें तो उस लद्दाखी गीत का भावार्थ सुना दूं।"

"हाँ हाँ, वही सही।" वह झट कह उठा।

मैंने कहा—"तो सुनिए—

किसी को स्वयं ज्ञान छू लेता है,
किसी से मिलने आता है बस कोई दर्शक !
कोई प्राप्त करता है एक दम व्यर्थ सी चीज़,
इसीलिए यहीं अपने को कसौटी पर परख लो ना !

जिसे विवेक मिल गया,
उसे समझो स्वर्गीय सुख मिल गया ।
महान् से महान् व्यक्ति को नौ चिह्न दरकार हैं,
सामान्य व्यक्ति को भी क्या यही सब चाहिए ?

तुम क्या ऊंची जागीर से आ रहे हो ?
क्या तुम चाहते हो तुम्हें थैली भेंट की जाय ?
क्या तुम यहाँ तक पहुँचे
धमकी पर धमकी देते हुए ?

तीन शत्रु होते हैं,
तीन मित्र होते हैं,
ये तीन शत्रु और तीन मित्र—
क्या तुम उन्हें गिना सकते हो ?

तीन शत्रु ये रहे—
एक वह जो रोग लाये,
एक वह जो आत्मा का वैरी हो,
एक वह जो खून बहाये !

हम शत्रुओं के समान नहीं आये,
हम तो मित्र हैं तुम्हारे;
हम तुरन्त गिना सकते हैं,
तीन मित्रों के नाम ।

एक बुद्ध भगवान्—हमारे निर्वाण-दाता
दूसरे निर्विरोध परिवार का मेल-जोल,
तीसरे स्नेह और रक्त का संगम !
ये हैं तीन मित्र—सचमुच ही !

हाँ तो अब कहिए कि लद्दाखी गीत में जो चित्र उभरता है, वह आपको कैसा लगा ?"

वह बोला—"चित्र बुरा नहीं, अच्छा ही है ।"

उस समय उसकी आवाज़ कुछ दब-सी गई थी, जैसे वह समझ गया हो कि मैं अपनी पुस्तकों को उसके पंजे से बचाने के लिए ही उसे बाहर ले आया था।

मैंने झट छुट्टी लेते हुए कहा—"अब के मैं स्वयं आपके यहाँ आऊंगा । अब आपको कष्ट करने की आवश्यकता नहीं ।"

अध्ययन-कक्ष में वापस आ कर मैंने स्वयं ही अपना कन्धा थपथपाया, मैं शाबाश का अधिकारी था। क्योंकि मैंने अपने अध्ययन-कक्ष की पुस्तकों के एक शत्रु को बड़ी तरकीब से भगा दिया था ।

चित्र सामने पड़ा है

बात एक चित्र की है। पर अभी से बता दूँ कि किस चित्र की बात है तो कदाचित् कुछ लोग सारी बात सुने बिना ही कह दें—बस बस, अब हमें और कुछ सुनने की आवश्यकता नहीं। और यह बात भला मैं कैसे पसन्द कर सकता हूँ कि कुछ लोग तो पूरी बात सुनने के लिए जम कर बैठे रहें और कुछ लोग बीच से ही उठ जांय।

हाँ तो चित्र कैसा भी क्यों न हो, किसी का भी क्यों न हो, उसे देख कर मन में जो भाव उठते हैं, उन्हें ठीक-ठीक प्रस्तुत कर सकना हर किसी के बस का रोग नहीं।

जिस चित्र का मैं यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ, उसमें रंगों से बिल्कुल काम नहीं लिया गया। बस रेखाओं से ही चित्रकार ने अपनी मुक्त कला का प्रदर्शन किया है।

यह तो कोई भक्त प्रतीत होता है जो, पद्मासन में बैठा है। जी हाँ, पद्मासन में बैठने की प्रथा तो चिरकाल से चली आई है। आँखें बन्द हैं, बड़े गहरे ध्यान में मग्न है यह भक्त। न जाने वह किसका ध्यान कर रहा है।

चित्र की पृष्ठभूमि में कुछ वृक्ष भी दिखाये गये हैं। वस्तुतः वृक्षों का ध्यान दिलाने वाली ये रेखाएं न होतीं तो यह चित्र शायद इतना सजीव न हो उठता। वृक्षों के साथ मनुष्य का सम्बन्ध बहुत पुराना है, भक्तों का सम्बन्ध तो वृक्षों के साथ इतना गहरा है कि आज भी कुछ लोग कहा करते हैं—वन में ही वह एकान्त मिल सकता है, जिसके बिना भक्त का ध्यान एकाग्र नहीं हो सकता।

भक्त की आँखों पर चित्रकार ने चश्मा भी दिखाया है। जी हाँ, इस चश्मे को बड़े ध्यान से देखना होगा, क्योंकि बाक़ी रेखाओं में चश्मे की रेखाएँ कुछ-कुछ दब-सी गई हैं। कन्धों से नीचे को आती हुई चादर में भक्त की भुजाएं छिपी हुई हैं। टाँगें भी चादर के नीचे आ गई हैं। इसे चित्रकार की कुशलता की चरमसीमा समझिये कि चादर के भीतर हमें भक्त की बाँहों और टाँगों का ध्यान आये बिना नहीं रहता।

अब भी यदि कोई यह नहीं समझ सका कि यह किसका चित्र है तो मेरा क्या दोष। भक्त का केवल एक कान ही नज़र आ रहा है। जी हाँ, चित्रकार ने भक्त के कान की रेखाएँ बड़ी कुशलता से अंकित की हैं—देखने वाले को यह विश्वास हो जाता है कि जनता की आवाज़ इस कान में दूर से भी सुनाई दे जाती होगी।

जी हाँ, यह वही भक्त है जिसकी जीवनी पढ़ने के लिए बाल गंगाधर तिलक ने सिफ़ारिश की थी। यदि कोई पूछे कि तिलक महाराज ने यह सिफ़ारिश क्यों की थी तो इसके उत्तर में मैं वह पत्र पढ़ कर सुनाऊँगा जो इस भक्त ने अपनी मृत्यु से कुछ ही दिन पहले लिखा था—

भाई शंकरजी,

तुम्हारी पुत्री सुलोचना के स्वर्गवास की खबर चिरंजीव किशोरलाल ने दी। मुझे कुछ भी पता नहीं था। मैं क्या लिखूं? तुमको आश्वासन क्या देना था? मृत्यु मित्र सच्चा

है। हमारा अहं भाव हमको दु:ख देता है। सुलोचना की आत्मा तो कल थी, आज है, भविष्य में रहेगी। शरीर तो जाना ही है, सुलोचना अपने दोष लेकर गई, गुण रख गई है, उसे हम न भूलें, फर्ज़ अदा करने में और सावधान बनो।

इस चित्र की क्या बात है। यह तो उस व्यक्ति का चित्र है जिसका नाम भारत के इतिहास के साथ सदा के लिए बंध गया है।

जी हाँ, यह उस महापुरुष का चित्र है जिसने सन् १६२१ में भारत को अंग्रेज़ों की गुलामी से मुक्त कराने के विचार से लिखा था—"......मैं किसी स्वाभिमानी मनुष्य के लिए इससे बढ़ कर अपमानजनक स्थिति की कल्पना ही नहीं कर सकता कि वह अपनी और अपने कुटुम्बियों की सुरक्षा के लिए उन्हीं का मुहताज रहे जिन्हें वह अपना भक्षक समझता है।"

जी हाँ, यह उसी महापुरुष का चित्र है, जिसने सन् १६३० में लार्ड इरविन को एक पत्र में लिखा था—"......अब मैं किसी भी कारण से आन्दोलन स्थगित नहीं कर सकता।"

सन् १६४२ में इसी महापुरुष ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के बारे में लिखा था—"मैं साफ़ शब्दों में कह दूँ कि मेरे इस प्रस्ताव में किसी व्यक्ति या दल के हाथों में हुकूमत सौंपने की बात नहीं है। अगर अंग्रेज़ किसी समझौते के फलस्वरूप हिन्दुस्तान छोड़ने को तैयार होते तो इस सवाल पर विचार करना ज़रूरी हो जाता। लेकिन मेरे इस प्रस्ताव के अनुसार तो उन्हें हिन्दुस्तान को भगवान्-भरोसे छोड़ जाना है। आजकल की भाषा में इसी को अराजकता करना है—इस अराजकता के फलस्वरूप देश में कुछ समय के लिए हलचल मच सकती है, या बेलगाम लूट फैल सकती है। लेकिन इसी में से आज के इस झूठे हिन्दुस्तान की जगह एक सच्चे हिन्दुस्तान का जन्म होगा।"

जी हाँ, इसी महापुरुष के पथ प्रदर्शन में भारत आज़ाद हुआ। १५

अगस्त भारत की आज़ादी का दिन है। पर जब आज़ादी के फ़ौरन बाद देश में कुछ गड़बड़ शुरू हो गई तो इस महापुरुष ने एक प्रार्थना-सभा में कहा था—"अगर हालत न सुधरी तो मेरे दिल में ऐसा अंगार पैदा हो जायगा जो मुझे भस्म कर डालेगा।"

एक नादान दीवाने की गोलियाँ सीने में खाने से एक दिन पूर्व ही इस महापुरुष ने कहा था—"मैं अशान्ति में शान्ति चाहता हूँ; नहीं तो इस अशान्ति में मर जाना चाहता हूँ।"

यह चित्र तो बोल सकता है और मैं इस चित्र की भाषा खूब समझता हूँ। जी हाँ, इसे हज़ार चित्रों में भी क्यों न रखा जाय, यह तो अलग ही नज़र आयगा। क्योंकि यह उस महापुरुष का चित्र है जिसके बारे में आइन्स्टाइन ने कहा था—"आने वाली पीढ़ियाँ मुश्किल से ही विश्वास करेंगी कि कभी कोई रक्त-मांस का ऐसा व्यक्ति भी इस धरती पर चलता फिरता था।"

इस चित्र की एक-एक रेखा बोल रही है। इन रेखाओं में कितनी ताज़गी है, कितनी शक्ति है। न जाने यह महापुरुष क्या सोच रहा है। उसकी ध्यान-मुद्रा शायद आज भी यही बता रही है कि उसे सबसे बड़ी चिन्ता अपनी मुक्ति के लिए नहीं थी, उसे तो हर घड़ी देश की आज़ादी के लिए ही चिन्ता रहती थी।

आने वाली पीढ़ियाँ इस महापुरुष को सदा याद रखेंगी और भारत के स्वाधीनता संग्राम की कहानी सुनाते समय बड़े गर्व से इस महापुरुष का नाम लिया करेंगी। मेरा तो विचार है कि जहाँ हम आज उस महापुरुष को शत-शत प्रणाम करें, वहाँ इस चित्रकार के सामने भी हमारा सिर झुक जाना चाहिए जिसकी तूलिका के चमत्कारस्वरूप यह रेखाचित्र हमें आज भी उपलब्ध है।

देश के प्रसिद्ध कलाकार श्री नन्दलाल वसु ने यह चित्र २० नवम्बर १६४६ को अंकित किया था, जब इस महापुरुष ने अन्तिम बार शान्ति-निकेतन की यात्रा की थी। जी हाँ, अब तो यह चित्र हमारे सामने पड़ा है।

चम्बा की सुन्दरी
फोटो : आर० आर० भारद्वाज

गोदावरी के किनारे

मेले से पहले
फोटो : आर० आर० भारद्वाज

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी
और देवेन्द्र सत्यार्थी

रेखा सत्यार्थी, कविता
वसुमती और अलका
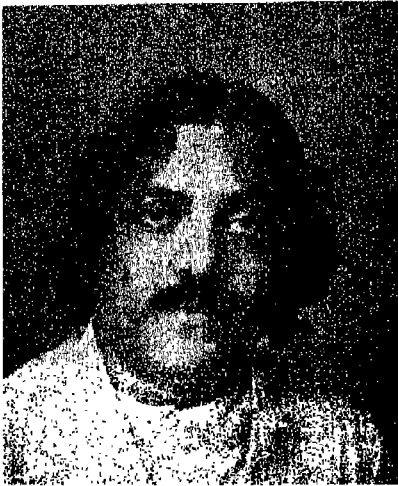
झवेरचन्द मेघाणी
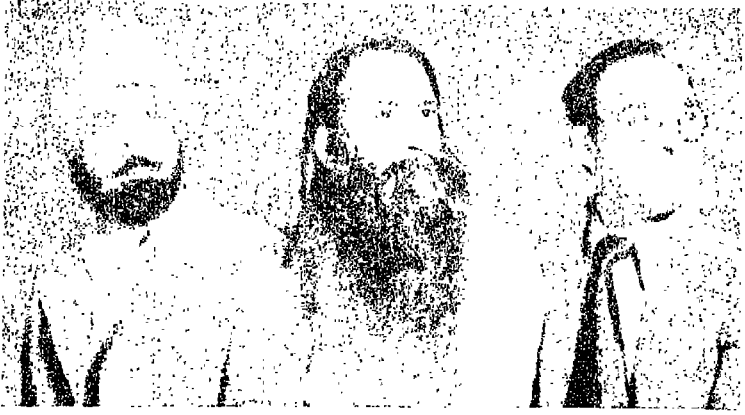
बलवन्त सिंह, देवेन्द्र सत्यार्थी
और कृष्णचन्द्र

यशपाल
फोटो : कान्तिचन्द्र सोनरेक्सा

महात्मा गांधी
चित्रकार : नन्दलाल वसु

यशपाल

यशपाल ने मातृभाषा पंजाबी को अपना साहित्यिक माध्यम बनाने की बजाय हिन्दी में लिखना पसन्द किया और आज हिन्दी साहित्य में उसकी धाक जमी हुई है। वह पंजाबी में लिखता तो कुछ कम थोड़े ही चमकता, पर उस अवस्था में वह पंजाब तक ही सीमित रह जाता। शायद किसी पंजाबी लेखक को मेरा यह कथन अनुचित प्रतीत हो, पर इतना तो सत्य है कि आज हिन्दी माध्यम को जो विस्तृत क्षेत्र प्राप्त है, वह पंजाबी को कभी प्राप्त नहीं हो सकता। यह एक प्रान्तीय भाषा और राष्ट्रभाषा की विषमता का प्रश्न है, जिसे भुठलाया नहीं जा सकता।

यशपाल के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि उसका पिता छः रुपये पाने वाला हरकारा था। बचपन की गरीबी उसे अभी तक याद है। फिर चन्द्रशेखर आज़ाद के अनुशासन में क्रान्तिकारी पार्टी का सदस्य रहने के बाद हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन पार्टी के सेनानायक के रूप में इलाहाबाद में गिरफ्तार हुआ और उसे नैनी जेल में बन्द कर दिया गया। यहीं उसने मार्क्सवाद का अध्ययन किया और फिर एक ही छलांग में वह

साहित्य-स्रष्टा बन गया। जेल में उसका स्वास्थ्य जवाब दे गया। बड़े-बड़े डाक्टरों ने कह दिया कि उसे टी० बी० हो गई है। फिर जेल में ही उसकी शादी का प्रसंग भी छिड़ गया। जेल के दफ्तर में प्रकाशवती ने, जो स्वयं क्रांतिकारी पार्टी की सदस्या थी, यशपाल से विवाह कर लिया।

सन् १६३८ में यशपाल को रिहाई मिली और उसने लखनऊ में बीस रुपये की पूंजी से एक प्रकाशन-संस्था को जन्म दिया।

जी हाँ, २१ हिवेट रोड लखनऊ में जाकर अब हर कोई यशपाल से मिल सकता है। यहीं उसका अपना प्रेस है, जिसका सारा दायित्व श्रीमती यशपाल ने अपने ऊपर ले रखा है।

हाँ तो अब तक यशपाल की दो दर्जन से ऊपर पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'पिंजरे की उड़ान', 'वो दुनिया', 'ज्ञानदान', 'अभिशप्त', 'तर्क का तूफान', 'भस्मावृत', 'चिनगारी' और 'फूलों का कुर्ता'—ये सात कहानी-संग्रह हैं। 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड', 'दिव्या', 'मनुष्य के रूप'—ये पांच उपन्यास हैं। 'मार्क्सवाद', 'चक्कर क्लब', 'न्याय का संघर्ष', 'सत्य और अहिंसा की परख'—ये रचनाएं उसे एक निबन्धकार के रूप में हमारे सम्मुख लाती हैं। इनके अतिरिक्त एक अनुवाद भी है—'पक्का क़दम'।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यशपाल ने अपने लिए हिन्दी साहित्य में एक नई परम्परा कायम की है। ज़माने का गर्म-सर्द उसने खूब देखा है और इसे व्यक्त करने का उसका अपना अन्दाज़ है। यशपाल को देख कर जिस किस्म के व्यक्ति का हम पहली ही नज़र में अनुमान करते हैं, उसी किस्म के व्यक्ति को हम उसकी रचनाओं में पाते हैं। मालूम होता है यह लमतड़ंग व्यक्ति अपनी बात मनवाने के लिए चपत भी लगा सकता है। सचमुच बात ऐसी नहीं है। यशपाल जो कुछ लिखता है, उसमें बात मनवाने

का अन्दाज़ अवश्य रहता है । पर वह कुछ इस तरह लिखता है कि पाठक उससे सहमत होता चला जाता है ।

शायद कोई कहे कि यशपाल की रचनाओं में कहीं-कहीं एक ख़ास तरह का अक्खड़पन उभरता है। जी हाँ, यह तो ठीक है । यह अक्खड़पन तो उसकी थाती है, जो उसके रक्त का भाग है । जिस वर्ग से उभर कर वह वर्ग-संघर्ष का साहित्यकार बन गया, उसकी चाल-ढाल और मनोवृत्ति वह बिलकुल छोड़ तो न सकता था । हाँ, उसने इस मौलिक अक्खड़पन को कहीं-कहीं नरम अवश्य कर दिया है ।

सन् १६४३ में उर्दू के साहित्यकार कृष्णचन्द्र ने यशपाल की चर्चा करते हुए लिखा था—"यशपाल हिन्दी के आधुनिक कहानी-लेखकों की प्रथम श्रेणी में पहले या दूसरे स्थान पर आते हैं....साहित्य-सृजन ही उनका शुग़ल है, या कसरत से सिगार पीना ।"

पर यशपाल का जो चेहरा उसकी रचनाओं में उभरता है, ज़रूरी नहीं कि उसमें भी सिगार नज़र आ जाय । दिल्ली में श्री कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा से मुझे यशपाल का जो फोटो ख़रीदने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उसमें भी तो सिगार कहीं दिखाई नहीं देता । ख़ैर, इतना तो सत्य है कि यशपाल से मिलने के लिए मेरे मन को सबसे अधिक इसी फोटो ने उत्सुक किया था ।

कई बार भदन्त आनन्द कौसल्यायन यशपाल की चर्चा छेड़ देते । श्रीमती यशपाल के आतिथ्य की बात भी चलती । पर मैं लखनऊ न जा सका ।

अभी उस दिन दिल्ली के शनिवार समाज में अकस्मात् यशपाल के दर्शन हो गये । पता चला कि श्रीमती यशपाल भी दिल्ली आई हैं । अगले दिन मैं उनके डेरे की तलाश करता उनके पास पहुँचा तो एक साथ यशपाल और श्रीमती यशपाल से भेंट हुई ।

मुझे याद है कि सबसे पहले उस फ़ोटो की बात चल पड़ी थी। "कांति के कैमरे का वह कमाल हमें एक-दूसरे के समीप लाया," मैंने कुरसी से उछल कर कहा।

"हमने भी ख़रीदा था वह फ़ोटो," श्रीमती यशपाल ने व्यंग्य कसा।

और हम तीनों हँस-हँसकर लोट-पोट हो गये।

फिर श्रीमती यशपाल ने एक लेखक की चर्चा की जो लखनऊ स्टेशन पर एक गाड़ी 'मिस' करके यशपाल से मिलने आया और चलते समय उसने फ़रमाया—"मेरे लिए अपनी सभी पुस्तकों का एक पूरा सेट बन्धवा दो, भाई यशपाल!"

श्रीमती यशपाल ने खुले शब्दों में आमन्त्रण देते हुए कहा—"आप कभी लखनऊ आइए।"

मैं अब कैसे कहता कि मैं लखनऊ अवश्य आऊँगा और आप यह ख़ातिर जमा रखिए कि मैं ख्वाह-म-ख्वाह पुस्तकों का मुफ्त सेट हथियाने की भूल कर भी कोशिश नहीं करूँगा।

बात चली थी कैमरे के एक कलाकार से, जो बेचारा मजबूर हो जाता है। क्योंकि आख़िर कोई कहाँ तक लोगों को उनके फ़ोटो भेंट करता चला जाय और वह भी इस मंहगाई के ज़माने में। बात की तान आ कर टूटी एक लेखक पर, जो बेचारा अपने समकालीन लेखकों को अपनी रचनाएँ मुफ्त भेंट नहीं कर पाता।

इस मुलाकात में मुझे 'पिंजरे की उड़ान' के लेखक के व्यक्तित्व को समझने में देर न लगी। यशपाल की आँखों का मुझ पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। उसके चेहरे की गहरी रेखाओं में मैंने इस साहित्यकार के क्रमशः अग्रसर होते दृष्टिकोण का इतिहास पढ़ लिया। मैं झट समझ गया कि किस प्रकार उसकी लेखनी व्यंग्य और अक्खड़पन को छूती चलती है। शुरू में जो व्यक्ति शुष्क और अभिमानी दिखाई दिया था, अब

मेरे कितना समीप आ गया था। मैं पूछना चाहता था कि व्यंग्य की कैंची चलाने की कला उसे कैसे प्राप्त हुई। मैं यह भी पूछना चाहता था कि वह कैसे वर्ग-संघर्ष का साहित्यकार बन पाया। पर अगले ही क्षण जैसे मुझे स्वयं इन प्रश्नों के उत्तर मिल गये।

श्री कृष्णदास ने यशपाल की चर्चा करते हुए ठीक ही लिखा है—"यशपाल की रचनाओं की मांसल सचाइयाँ समाज की सचाइयाँ हैं। उस समाज की सचाइयाँ हैं जिसके दिन ढल चले, जो अपने अन्तर्विरोधों की रगड़ से टूट और घिस गया है और जो अपनी ज़िन्दगी की आखिरी घड़ियाँ गिन रहा है। साथ ही उस समाज की भी सचाइयाँ हैं जो अपने रक्त और स्वेद के बल पर अपनी हड्डियों की सीढ़ियों के सहारे ऊपर उभरता जा रहा है।"

इधर कुछ आलोचकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि यशपाल प्रतिक्रियावादी हो गया है। यह शोबदाबाज़ी है, आलोचना नहीं। यदि आलोचना एक वैज्ञानिक वस्तु है तो इस किस्म की खिलवाड़ सचमुच एक हास्यास्पद वस्तु है और जो भी आलोचक आलोचना को शोबदाबाज़ी के स्तर पर उतारने का अपराध करता है उसे क्षमा नहीं किया जा सकता।

समझ में नहीं आता कि यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि यशपाल आगे बढ़ने की बजाय पीछे हट रहा है। अरे भई, कहाँ पीछे हट रहा है यशपाल!

शायद कोई सामने से कहे—वाह साहब, आप भी तो कमाल कर रहे हैं। आप भी कोई दलील थोड़े ही दे रहे हैं कि यशपाल सचमुच प्रगतिशील है। हाँ तो मैं हँसकर यही कह सकता हूँ—यह सिद्ध करने का न समय है न अवसर।

महादेव भाई की डायरी

डायरी की परम्परा आधुनिक काल की उपज है। संस्मरणात्मक साहित्य के सृजन में इसकी जितनी क़दर की जाय थोड़ी है। कई बार डायरी के पृष्ठों में ऐसी ऐसी बातें मिल जाती हैं, जो ऊपर से भले ही एकदम कच्चा मसाला दिखाई दें पर जिनके बिना शायद इन संस्मरणों से सम्बन्धित व्यक्ति के जीवन के ये पहलू हमारी आँखों से ओझल ही रहते।

पहले भाग में १०-३-१९३२ से ४-९-१९३२ तक की चर्चा की गई है। जेल में होने के कारण महादेव भाई को अधिक फ़ुरसत रहती थी। इसीलिए उन्हें अधिक गहराई में जाने की सुविधाएं प्राप्त थीं। संकेत लिपि (शार्ट हैंड) से वे अनभिज्ञ थे और सदा दीर्घ लिपि में ही नोट लेते थे। उन्हें इतनी तेज़ी से लिखने का अभ्यास था कि वे झट सब बातें नोट करते चले जाते थे और फिर उन्हीं नोटों की सहायता से शब्दशः विवरण प्रस्तुत कर सकना उनके लिए बायें हाथ का खेल था।

महादेव भाई जीवित होते तो उनके द्वारा लिखी हुई 'बापू' की जीवनी बोसवेल की याद ताज़ा कर देती, जिसने प्रसिद्ध अंग्रेज़ विद्वान् डाक्टर

जॉनसन की जीवनी लिखकर यश प्राप्त किया था। या शायद महादेव भाई बोसवेल से भी बहुत आगे बढ़ गए होते। खैर, महादेव भाई की अकाल मृत्यु के कारण यह सम्भव न हो सका।

कहीं चाय की चर्चा चल पड़ती है—

"यहाँ बापू के साथ अब क्या चाय पियें? मैंने तो तै कर लिया है कि वे जो खायें सो खाना। चावल छोड़ दिया, और साग उबालने का निश्चय किया और दो बार दूध रोटी खाने का। बापू भी रोटी खाते हैं।"

सरदार वल्लभ भाई पटेल के मुख से ये शब्द सुन कर महादेव भाई भी चाय पीने से इन्कार कर देते हैं।

फिर खजूर का ज़िक्र आता है—

"वल्लभ भाई बापू को हंसाने में कसर नहीं छोड़ते। आज पूछने लगे, 'कितने खजूर धोऊं?' बापू ने कहा—'पंद्रह'। तो वल्लभ भाई बोले—'पंद्रह और बीस में क्या फ़र्क है?' बापू ने कहा—'तो दस, क्योंकि दस और पंद्रह में क्या फ़र्क?'

फिर एक जगह सोडे की चर्चा की गई है—

"वल्लभ भाई की दिल्लगी चलती ही रहती है। बापू सब चीज़ों में सोडा डालने को कहते हैं, इसलिए वल्लभ भाई को एक बड़ा मज़ाक का विषय मिल गया है। कुछ भी अड़चन आये तो कह उठते हैं—'सोडा डालो न!' "

एक और स्थल पर आलू की बात सुन लीजिए—

"आज बापू की तबीयत कुछ बिगड़ गई। लगातार तीन दिन तक आलू खाने का नतीजा यह हुआ कि कब्ज़ हो गया।"

एक स्थल पर बाजरे का प्रसंग छिड़ जाता है—

"बाजरे की रोटी शुरू की। उसके असर का ज़िक्र करते हुए कहने लगे—'मैंने इसके साथ दूध कभी लिया नहीं, इसलिए कह नहीं सकता। मगर देखूंगा, इसका प्रयोग करूंगा। मैंने कहा—'अब प्रयोग कब तक करते

रहेंगे ? २० सितम्बर तक की मियाद है।' बापू कहने लगे—'मुझे तो इसका ख्याल नहीं आता। वह दिन आयगा, तभी इसका विचार करूंगा। तब तक प्रयोग करते ही रहना है।' मैंने कहा—'हम शांत नहीं रह सकते।' बापू बोले—'यह मैं जानता हूं। परन्तु मैं शान्त न रह सकूं, तो मर ही जाऊं।' "

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके शान्तिनिकेतन के सम्बन्ध में भी गांधी जी की शुभ कामना का उल्लेख किया गया है—

"फिर वल्लभ भाई बोले—'मगर उनका शांतिनिकेतन चलेगा ? वे तो बूढ़े हो गये और उनकी जगह लेने वाला कोई रहा नहीं।' बापू ने कहा—'बात तो ज़रूर मुश्किल है। मगर यह तो कैसे कहा जा सकता है ! भगवान् ने इनकी प्रतिभा वाला आदमी पैदा किया, तो उसे यह तो मंजूर नहीं होगा कि उसका काम यों ही बन्द हो जाय।' वल्लभ भाई कहने लगे—'यह तो ठीक है। मगर उनकी जो असाधारणतायें हैं, उन सबको कौन इस क्षेत्र में ला सकेगा ?' मैंने कहा—'नन्दलाल बोस, असित हलधर जैसे चित्रकार वहाँ मौजूद हैं। विधुशेखर शास्त्री भी हैं।' वल्लभ भाई बोले—'चित्रकला तो ठीक है। मगर उसकी पाठशालायें कितनी चल सकती हैं ? हमारा तो खादी और चरखा है। उसके लिए थोड़े ही चाहिएँ.......' मैंने तुरन्त कहा—'टैगोर के बारे में यह कहा जा सकता है कि आज तक उनके यहाँ असाधारण प्रतिभा वाले लोग खिंच कर न आये हों, तो शायद अब उनके काम को जारी रखने के लिए आ जायँ। शान्तिनिकेतन को उनके आदर्श के अनुसार ही जारी रखने के लिए नये आदमी क्यों न शरीक होंगे ?' बापू ने कहा—'ठीक है। आज उनकी प्रचण्ड शक्ति से अधिक आदमी आकर्षित न हों, तो भविष्य में आकर्षित हो सकते हैं। आज भी रामानन्द चटर्जी जैसे लोग हैं ही, और ईश्वर-कृपा से और लोग भी आ सकते हैं। और उनका शान्तिनिकेतन का काम तो जारी ही रहेगा। अमहर्स्ट जैसा आदमी

विलायत छोड़ कर इसे चलाने के लिए चला आय, तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा।' "

एक स्थान पर बापू महादेव भाई से कहते हैं—

"इतना काव्य वल्लभ भाई को पढ़ कर सुना दो। इक़बाल का है।"

फिर एक दिन बापू को उर्दू कापी लिखते देख कर सरदार कह उठते हैं—

"इस में जी रह जायगा तो उर्दू मुंशी का अवतार लेना पड़ेगा।"

स्व० रामानन्द चटर्जी द्वारा सम्पादित 'माडर्न रिव्यु' बापू को विशेष रूप से प्रिय था।

"आजकल शाम को दूसरे अख़बार पढ़ने के लिए न हों तब 'माडर्न रिव्यु' पढ़ा जाता है। बापू जिन लेखों पर निशान लगा देते हैं वे पढ़ने के होते हैं।"

सरदार पटेल किस प्रकार संस्कृत का अध्ययन करने लगे, इसकी बड़ी मनोरंजक चर्चा की गई है—

"वल्लभ भाई के लिफ़ाफ़ों की और संस्कृत की पढ़ाई की तारीफ़ हर पत्र में करते हैं। कल काका को खत में लिखा था कि 'उच्चैश्रवा की गति से वल्लभ भाई की पढ़ाई चल रही है।' आज प्यारेलाल को लिखा—वल्लभ भाई अरबी घोड़े की तेज़ी से दौड़ रहे हैं। संस्कृत की किताब हाथ से छूटती ही नहीं। इस की मुझे आशा नहीं थी।"

ऐसे अनेक स्थल हैं जिनके उल्लेख द्वारा एक चलचित्र प्रस्तुत किया जा सकता है। महादेव भाई सहज ही एक बड़ी बात लिख जाते हैं। यदि महादेव भाई ने अनेक प्रसंगों की चर्चा को यों लिपिबद्ध न किया होता तो आज यह बहुमूल्य सामग्री विस्मृति के गहन अन्धकार में खो चुकी होती।

: २ :

डायरी के दूसरे भाग में ४-६-'३२ से १-१-३३ की सामग्री उपलब्ध

है, जब महादेव भाई को यरवदा जेल में गांधी जी के साथ रहने का अवसर मिला था ।

डायरी के इस भाग में आरम्भ से अन्त तक उपवास की चर्चा मिलती है, और हम गांधी जी को अत्यन्त निकट से समझने में समर्थ हो सकते हैं ।

२० सितम्बर (मंगलवार) १६३२ के दिन गांधी जी ने अछूतपन का मैल धोने के लिए उपवास आरम्भ किया था । उस दिन गांधी जी रात के ढाई बजे ही उठ गये थे और उन्होंने अनेक मित्रों को पत्र लिखे । रवीन्द्रनाथ ठाकुर को लिखे गये पत्र में उन्होंने लिखा—

"आज दोपहर को मेरा अग्नि-प्रवेश होगा....मुझे आपका आशीर्वाद चाहिए...."

इस पत्र के उत्तर में गांधी जी को गुरुदेव का तार मिला जिसके अन्तिम शब्द उल्लेखनीय हैं—

"हमारे दुःखी हृदय पुण्य भाव और हृदय के साथ आपकी भव्य तपश्चर्या का अनुसरण कर रहे हैं ।"

इस उपवास के दिनों में गुरुदेव शान्तिनिकेतन से चल कर पूना पधारे थे । उनके शान्तिनिकेतन लौटने पर गांधी जी ने उन्हे १०-१०-३२ को एक पत्र में लिखा था—

"पूना में आपको खूब मेहनत करनी पड़ी और यह लम्बा सफ़र भी उतना ही थका देने वाला था । फिर भी मैं आशा करता हूँ कि आपकी तबीयत ठीक रही होगी । पिछले महीने की बीस तारीख को ग्रामवासियों में आपने जो सुन्दर प्रवचन दिया, उसका अनुवाद करके महादेव ने हमें सुनाया था ।"

देशबन्धु ऐन्ड्रूज़ को ४-११-'३२ को लिखे गये एक पत्र में गांधी जी ने लिखा—

"गुरुदेव अब भी प्रेम बरसा रहे हैं । उस छोटे से उपवास से मुझे यह खजाना मिला है, जो मैंने सपने में भी नहीं सोचा था । उसमें सब से

कीमती चीज़ गुरुदेव हैं। किसी ने मुझ से कहा होता कि 'गुरुदेव को पाने के लिए उपवास करो' तो और कोई विचार किये बिना मैंने वह किया होता। उनके हृदय में एक कोना पाने के लिए मैं तरस रहा था। ईश्वर की कृपा से उपवास के ज़रिये मैंने वह कोना पा लिया।"

हमें गांधी जी के ऐसे अनेक पत्र पढ़ने को मिल जाते हैं, जो वे समय-समय पर परिचितों अथवा अपरिचितों के पत्रों के उत्तर में लिखा करते थे। पद्मजा को बापू ने एक पत्र में लिखा था—

"बुद्ध की जिस भव्य कथा का तूने उल्लेख किया, उस पर से बहुत सी पवित्र बातों का स्मरण होता है। हाँ, मैं ऐसे बहुत से सपने देखा करता हूँ..."

एक और पत्र में गांधी जी ने पद्मजा को लिखा था—

"तेरी ग़ैरमौजूदगी मुझे बहुत खटकती है। फूलदानियाँ हमेशा तेरी याद दिलाती हैं। मगर अपने प्यारों की जुदाई तो क़ैदी का विशेषाधिकार है।"

श्री नारायणदास के ४७ वें जन्मदिन पर गांधी जी ने लिखा—

"तुम्हें मेरा आशीर्वाद अंजुलियाँ भर-भर कर है...."

एक लड़की को गांधी जी ने लिखा था—

"तू लिखती है कि तेरा मन ठिकाने नहीं, इसलिए पत्र नहीं लिखेगी। यह भी विकार की निशानी है..."

एक और लड़की को गांधी जी ने लिखा—

"तेरा पत्र विचित्र है। एक तरफ़ से उपवास की बात करती है, दूसरी तरफ़ से विवाह की। उपवास का तेरा समय नहीं, अधिकार नहीं। जब तक विवाह की गांठ बंध न जाय, तब तक जिस युवक के साथ सम्बन्ध हुआ है, उसके साथ माता-पिता की आज्ञा लेकर निर्विकार पत्र-व्यवहार तू अवश्य कर सकती है...."

एक और पत्र में गांधी जी लिखते हैं—

"सुरेन्द्र मोची का काम धड़ाके से चल रहा होगा। उससे कहना कि भगवान् जूतों में, मृत पशुओं के चमड़े में भी आराम से रहता है। मेरे लिए अभी तलवों का जो चमड़ा भेजा है, वह अच्छा है। उस में भगवान् बहुत खूबसूरत लगते हैं। भगवान् कोई ग्रन्थों में ही बसते हों, यह बात नहीं...."

एक स्थल पर सरोजिनी नायडू की चर्चा की गई है—

"३१-१०-'३२। आज संवत् १९८९ शुरू होता है। बापू ने श्रीमती सरोजिनी नायडू को एक हार और बकरी के दूध का पेड़ा भेजा, साथ में एक पत्र भी...."

: ३ :

जेल से बाहर रहते हुए महादेव भाई ने जो डायरियाँ लिखीं, उनके अनेक अंश नवजीवन आदि पत्रों में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। पर जेल की इस डायरी के बहुत कम अंश पत्रों में प्रकाशित हो पाये थे। इसलिए इस डायरी का प्रकाशन अधिक आवश्यक समझा गया।

यह डायरी सचमुच बड़े काम की चीज है और इसका अध्ययन करते हुए अनेक स्थलों पर यही जी चाहता है कि आज यदि महादेव भाई जीवित होते तो हम उन्हें इस महान् सेवा के लिए शत-शत प्रणाम करते। उड़ते हुए समय के महत्त्वपूर्ण क्षणों की स्मृति को इतनी सजीव शैली में उपलब्ध कर सकना सहज नहीं था। पग-पग पर महादेव भाई ने बड़ी कुशलता से भारत के इस युगपुरुष की विचारधारा और दिनचर्या पर प्रकाश डाला है।

निस्संदेह यह एक ऐतिहासिक प्रकाशन है। नये भारत के आधुनिक इतिहास पर इस पुस्तक की अनेक उल्लेखनीय चर्चाओं द्वारा जो प्रकाश डाला गया है उसका मूल्य चिर स्थायी है।

डायरी के दोनों भागों में कुछ चित्र भी दिये गये हैं जिनका डायरी से सीधा सम्बन्ध है और जिनका अपना महत्त्व है।

क्या गोरी क्या साँवरी

महादेव देसाई के हाथ में लेखनी के स्थान पर तूलिका होती तो वे सूक्ष्म स्पर्शों द्वारा ही अपने चित्रों का निर्माण करते, यह बात 'महादेव भाई की डायरी' का अध्ययन करते हुए अनेक स्थलों पर मन को छू-छू जाती है। अनेक सूचनाएं, जो शायद इतिहास के पृष्ठों पर न आ सकतीं, अब इस डायरी के पृष्ठों में सजीव हो उठी है। निस्सन्देह महादेव देसाई का नाम डायरी लेखक के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा।

यह तो आवश्यक है कि डायरी के लेखक में इतनी सूझ-बूझ हो कि वह आवश्यक और अनावश्यक की सीमा-रेखा को सदा ध्यान में रखे। उसे तो छोटी-छोटी बातों पर ही ज़ोर देना चाहिये जो बाहर से छोटी दिखाई देने पर भी वास्तव में बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं। महादेव भाई इस कला में प्रवीण थे। वे खूब जानते थे कि नब्ज़ कैसे चल रही है; बदलते हुए इतिहास में 'बापू' की एक हंसी, उनके मुख से निकला एक बोल, उनके किसी पत्र का उल्लेख कितना बड़ा स्थान रखता है—यह वे खूब समझ गये थे।

निस्सन्देह 'महादेव भाई की डायरी' एक बार पढ़ने पर तो मन नहीं भरता। डायरी के सुयोग्य सम्पादक श्री नरहरि पारीख और अनुवादक श्री रामनारायण चौधरी के अथक परिश्रम द्वारा अहमदाबाद के नवजीवन प्रकाशन मन्दिर ने यह डायरी प्रकाशित की है। पहले भाग के ४०४ पृष्ठ हैं और दूसरे भाग के ४४८। एक बार समाप्त करने पर जी यही कहता है कि अभी तो इसे फिर से पढ़ना होगा।

मेले भी आते रहें

मेले की बाट जोहते कितने दिन बीत गये। आखिर वह दिन आ गया। पास के गाँव में मेला लगता आया है बरसों से, शताब्दियों से। अब के भी तो यह मेला जरूर लगेगा, जब दूर-दूर और आसपास के गाँवों से लोग खिंचे चले आयेंगे। बालक की माँ सोचती है कि अबके वह मेले में सम्मिलित न हो सकेगी। बालक को उठा कर मेले का रास्ता तय करना आसान नहीं। पास से कोई मनचला कह उठता है—

> चल्ल चल्लिये चिड़िक्क दे मेले,
>
> नी मुण्डा तेरा मैं चुक्क लूँ।'

—'चलो चिड्डिक्क के मेले पर चलें,
अरी तेरे बेटे को मैं उठा लूंगा।'

यह एक पंजाबी लोकगीत है जो आज भी मेरी कल्पना में अँगड़ाई ले रहा है, और यह कुछ कम प्रभावशाली चित्र नहीं है। बालक की माँ ने क्या उत्तर दिया होगा? शायद उसने इस शर्त पर चिड्डिक्क गाँव के मेले में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया हो।

क्या गोरी क्या साँवरी

भारत के प्रत्येक प्रदेश में सामूहिक मनोरंजन और उल्लास का इतिहास बहुत पुराना है। सहनशीलता और सहयोग की भावनाओं के अनुरूप जहाँ सामाजिक चेतना ने गाँव को चिरकाल तक आत्मनिर्भर बनाये रखा, वहाँ मनोरंजन के ऐसे साधन भी प्रस्तुत किये जिनके प्रकाश में पृथ्वीपुत्र को उसके वास्तविक रूप में देखा जा सके। जनता की आशा आकांक्षा प्रत्येक प्रदेश में पृथक् रूप रखती है। पर त्योहारों और मेलों का उल्लास सर्वत्र समान रूप से उभरता है। जहाँ तक लोकमत का सम्बन्ध है, मनोरंजन के के इन साधनों का भविष्य बहुत उज्ज्वल प्रतीत होता है।

चारों ओर से लोग किसी एक केन्द्रीय स्थान पर खिंचे चले आते हैं। जीवन के कष्टों को भूलकर वे सुख शान्ति की भावना से तृप्त होने का यत्न करते हैं। गाना बजाना, हँसना नाचना और दो घड़ी मौज कर लेना—यही जनता की मनोरंजनवृत्ति की मूल-भावना है। गाँव-गाँव की चाल-ढाल और बोली-ठठोली इस अवसर पर स्वयं अपना परिचय देती है। जैसे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से मिलता है, वैसे ही एक गाँव दूसरे गाँव से और एक कबीला दूसरे कबीले से मिलता है। मेलों पर हुई ये मुलाकातें जीवन की एकरसता में परिवर्तन का अंश प्रस्तुत करते हुए जनता के जीवन-दर्शन में नये विचारों और अनुभवों की वृद्धि करती हैं। बल्कि यों कहना होगा कि इन्हीं त्योहारों और मेलों के कारण जनता जीवन का ज़ायका बदलती रहती है।

सत्य और निष्कपटता के सम्मिश्रण के बिना किसी सामूहिक मनोरंजन का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। विभिन्न मेलों की अलग-अलग विशेषता है। किस मेले का आरम्भ कैसे हुआ, यह एक लम्बा विषय है। हाँ, जहाँ तक इनकी विशेषता का सम्बन्ध है, अधिकांश भारतीय मेले ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध किसी न किसी देवी देवता या किसी धार्मिक, सामाजिक या किसी ऋतु विशेष के त्योहार से जोड़ दिया गया है। बहुत से मेले पशुओं और देहाती दस्तकारी या अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए लगते हैं।

मेले भी आते रहें

अभी अगले ही दिन मेलों के एक विशेषज्ञ से पता चला कि भारत के विभिन्न प्रदेशों में पशुओं और देहाती दस्तकारी या अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिये सत्रह सौ मेले लगते हैं और यदि उन हाट-बाज़ारों की संख्या भी इसमें सम्मिलित कर ली जाय, जिनका रिवाज़ विशेष रूप से आसाम, बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारत में है, तो इनकी गिनती के मुक़ाबिले में धार्मिक मेलों की संख्या कम नज़र आने लगेगी। ये हाट-बाज़ार प्रति सप्ताह लगते हैं और इनमें कुछ तो ऐसे हैं जिनमें चारों तरफ़ के पांच-पांच, दस-दस और कभी-कभी बीस-बीस गाँवों के लोग सम्मिलित होते हैं। पुरुष, स्त्रियाँ, बालक, युवक और वृद्ध सब ही नज़र आते हैं। यहाँ तरह-तरह की चीज़ें बिकती हैं और गाँव का सांस्कृतिक सम्मान बढ़ता है। यहाँ भी मेल-जोल की बाँसुरी बज उठती है और आँखें चार होती हैं। गाँव वालों के मस्तकों पर चमक आ जाती है।

जंगलों और पहाड़ों में जहाँ भारत के आदिवासी कबीले बसे हुए हैं, ये हाट-बाज़ार और भी लोकप्रिय और मनोरंजक होते हैं। प्राय: दो दिलों का प्रेम सोने के तराज़ू में तुल जाता है और माता-पिता की सलाह लिये बिना ही युवक अपनी प्रेयसी को भगा ले जाता है। आदिवासियों के लोकगीतों में जहाँ कहीं अपहरण की चर्चा चलती है, हाट-बाज़ार की पृष्ठभूमि स्वयं उभरने लगती है। अपहरण का परिणाम सदा युवक-युवती के हित में ही निकलता है।

वह गाँव, जहाँ हाट-बाज़ार या मेला लगता है, सौभाग्यशाली समझा जाता है। यदि उस गाँव को आत्मकथा लिखने का अवसर मिले तो वह एक विख्यात साहित्यकार के शब्दों को थोड़ा बदल कर कह सकता है—'मैं मानो शहद का छत्ता हूँ। जिस तरह मधुमक्खियाँ शहद ले कर आती हैं, सीधे-सादे और गुमनाम इन्सान अपने अनुभव और अवलोकन ले कर मेरे पास आते हैं, और अपनी-अपनी भेंट से मेरी आत्मा को सम्पन्न करते हैं।'

धार्मिक मेलों के साथ शताब्दियों की सामाजिक चेतना की गाथा सम्बद्ध है। कभी-कभी तो किसी नदी के किनारे मेले का ठाठ देख कर जी कह उठता है,—'वाह वाह, कितना सुन्दर स्थान चुना गया है !' देवी या देवता का नाम ले कर लोग स्नान करते हैं। फिर पंडों या पुजारियों के द्वारा देवी या देवता की मूर्ति के सम्मुख प्रार्थना करते हैं। एक क्षण के लिये यों लगता है कि मूर्ति जीवित मनुष्य के समान मुस्करा उठी है और उसमें भक्त की प्रार्थना स्वीकार कर ली है। इसके पश्चात् खेल-तमाशे और राग-रंग की बारी आती है। बच्चे, बूढ़े, जवान सब खुश नज़र आते हैं। उधर बालक खिलौने के लिए हाथ बढ़ाता है, इधर एक बूढ़े की आँखों में अपना बचपन फिर जाता है जब स्वयं उसके हाथ भी किसी ऐसे ही मेले में खिलौने की ओर बढ़ गये थे। कभी एक युवती की आँखों में यौवन-मदिरा छलक उठती है और पास खड़ी उसकी माँ को यौवन के दिन याद आ जाते हैं। जैसे वह कहना चाहती हो—मैंने बहुत कुछ खो दिया। पर देवता का लाख लाख धन्यवाद है कि मैंने बहुत कुछ पाया भी तो है। मन्दिर की दीवार से टेक लगा कर बैठे हुए बुड्ढे की आँखें यह कहती नज़र आती हैं—यह अन्तिम मेला है जो मैं देख रहा हूँ। पर देखते ही देखते उसकी आँखों में आशा की किरण चमक उठती है और वह यह सोच कर मन ही मन में मुस्कराता है कि अगला मेला भी वह देवता के आशीर्वाद से अवश्य देखने आयगा।

सामाजिक मेलों में चहल-पहल का यह हाल होता है कि यह बात बार-बार ओठों पर आती है कि मनुष्य की वास्तविक थाती तो सामूहिक मनोरंजन है और इसके बिना मनुष्य अपने सामूहिक दुःख-दर्द से कभी मुक्त नहीं हो सकता। वस्तुतः आधुनिक मनुष्य को भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि परम्परा को एक दम मिटा डालना तो ठीक न होगा। बल्कि आवश्यकता तो इस बात की है कि परम्परा और मौलिकता के संगम पर नये जीवन की

कल्पना प्रस्तुत की जाय।

लोकगीत और लोकनृत्य मेलों में उल्लास के उछलते-मचलते रंग भर देते हैं। यही तो जनता की वास्तविक पूंजी है। इस पूंजी से और भी लाभ उठाया जा सकता है। नई परिस्थितियों के अनुरूप नये गीत और नृत्य प्रस्तुत किये जाने चाहियें।

सर्वोत्तम सामाजिक मेले आदिवासियों के गाँवों में ही देखे जा सकते हैं। ये मेले लोकनृत्य के उत्सव होते हैं। आदिवासियों के यहां लोकनृत्य भी कबीले की श्रद्धा और आस्था का विशेष अंग है और संसार के अधिकांश आदिवासी कबीलों के समान भारत में भी गाँव की समृद्धि और फसलों की प्रचुरता के लिए लोकनृत्य द्वारा जादू-टोने का काम लिया जाता है। यह भी कहा जाता है कि यदि कोई नृत्य में आस्था न रखे तो देवता अप्रसन्न हो जायेंगे। उसका यह परिणाम होगा कि गाँव नष्ट हो जायगा और वही धरती, जो नवान्न प्रदान करती है, एक वन्ध्या नारी के समान हो जायगी।

हमारे आदिवासी कबीले नई परिस्थितियों से अपरिचित हैं और जीवन का बोझ उनके लिए पहले से कहीं अधिक भारी हो गया है। यदि हम देश को सामूहिक रूप में आगे ले जाना चाहते हैं तो हमें आदिवासियों को भी साथ ले कर चलना होगा। इस से पूर्व कि हम उन्हें पग बढ़ाने के लिए आवाज़ दें, यह आवश्यक है कि हम देश के उत्थान में उन्हें बराबर का भागीदार समझें। थोड़ा यत्न किया जाय तो आदिवासियों के लोकनृत्य और मेले बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

देश के कलाकारों को चाहिए कि नगरों की भूमि पर सर्वोत्तम लोकनृत्यों का प्रदर्शन करके मुक्त होने की बजाय वे आदिवासियों के यहाँ भी जायें और उन्हीं के लोकनृत्यों में रंग भर कर नई चमक के साथ उनका प्रदर्शन करें। इसका परिणाम यह होगा कि कला के लिए आदिवासियों का उत्साह और भी बढ़ जायगा। लोकनृत्यों के फिल्म दिखा कर भी यह कार्य किया

जा सकता है। पर आदिवासी जनता जीवित सम्पर्क और सहयोग को अधिक पसन्द करेगी। बहुत शीघ्र हम देखेंगे कि आदिवासी बालक, युवक और बूढ़े जीवन को नई तराजू में तोलने लगते हैं। उनका सांस्कृतिक स्तर ऊँचा उठ जायगा और उनके लोकनृत्य और मेले नई परिस्थितियों और मांगों के अनुरूप प्रतीत होंगे।

भारत के विभिन्न प्रदेशों में मैंने अनेक मेले देखे हैं और आज मेरी कल्पना के कलाभवन में उनके अनेक चित्र उभरते हैं। ऐसा कोई मेला मेरे देखने में नहीं आया जहाँ स्त्रियाँ सम्मिलित न हों।

मेले में जाने वाली स्त्रियों को गांव से एक साथ चलना चाहिए। किसी बुढ़िया का यह उपदेश वातावरण में गूंज उठता है? पर सब स्त्रियां एक ही टोली में कैसे चल सकती हैं? एक की दो-दो, बल्कि तीन-तीन टोलियाँ नज़र आती हैं। प्रत्येक टोली अलग-अलग गीत छेड़ देती है। जी चाहता है कि कोई इन्हें इतना तो समझा दे कि यों तो तीनों के तीनों गीत परस्पर विरोधी आवाज़ों के शोर में दब जाते हैं। पर किसे इतना अवकाश है कि इन्हें समझाये। जल्दी-जल्दी पग उठ रहे हैं। रास्ते पर धूल का बादल उठता है, दबता है और फिर उठता है। किसे इतना अवकाश है कि इन्हें धूल का ध्यान दिलाये। वस्त्रों के रंग धूल में भी दबते नहीं। गीत, कहकहे और रूप-रंग का रच-रचाव संतुलन की दृष्टि से मुक्त तूलिका के चित्रांकन का दृश्य प्रस्तुत कर देते हैं। जीवन का उल्लास किसी नई-नवेली दुलहन के मुख पर सिमटा सिमटाया-सा थिरक उठता है। लाजवन्ती-सी उसकी पायल किसी नई गत से झनक उठती है। वह क्यों किसी से पीछे रह जाय? चौंक कर वह पीछे की ओर देखने लगती है जैसे किसी ने उसका आंचल थाम लिया हो। बार-बार घूंघट उलट कर वह पीछे की ओर देखने लगती है जैसे रूप का निमंत्रण देने का अभ्यास किया जा रहा हो। साथ-साथ बुढ़िया चली जा रही है, जो जीते-जी दिल को मरने नहीं देना चाहती। सोचती है

कि मेरे भाग्य में यह मेला देखना भी लिखा था। वह माथे की धूल को बार-बार साफ़ करती है। उसके माथे की झुर्रियाँ, जो खेत में हल की रेखाओं का स्मरण दिलाती हैं, और भी स्पष्ट हो जाती हैं। वह बार-बार दुलहन की ओर देखती है जैसे उससे कह रही हो—बेटी यह जीवन और यौवन भी एक मेला है और इस मेले में सबसे बड़ा भाग्यशाली वही है जो सबसे अधिक आनन्द मनाये। ऐसे-ऐसे बीसियों दृश्य कल्पना में उभरते हैं। कल्पना के कलाभवन की दीवारें फैलती चली जाती हैं। यों प्रतीत होता है कि कलाकार बढ़-बढ़ कर हाथ चला रहा है। रंग हैं कि कभी खत्म होने में नहीं आते और तूलिका है कि कभी गति का अंचल नहीं छोड़ती।

आधुनिक युग के फ्रांसीसी साहित्यकार आंद्रे ज़ेद ने अपनी आत्मकथा में इस बात पर ज़ोर दिया है कि प्रसन्न रहना मनुष्य का एक नैतिक उत्तरदायित्व है। अर्थात् हमारे व्यक्तिगत जीवन का प्रभाव हम तक ही सीमित नहीं रहता, वह दूसरों को भी प्रभावित करता है। या यों कहिए कि हमारी हर अवस्था की छूत दूसरों को भी लगती है। इसलिए हमारा नैतिक कर्त्तव्य है कि स्वयं अप्रसन्न हो कर दूसरों पर विषाद की छाया न पड़ने दें। आंद्रे ज़ेद के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए मौलाना अब्बुलकलाम आज़ाद लिखते हैं—"हमारी ज़िन्दगी एक आइनाखाना है। यहाँ हर चेहरे का अक्स बयक वक्त सैकड़ों आइनों में पड़ने लगता है। अगर एक चेहरे पर भी गुबार आ जायगा तो सैकड़ों चेहरे गुबार आलूद हो जायँगे। हम में से हर फर्द की ज़िन्दगी महज़ एक इनफरादी वाकया नहीं है। वह पूरे मजमुए का हादिसा है। दरया की सतह पर एक लहर तनहा उठती है। पर इसी एक लहर से बेशुमार लहरें बनती चली जाती हैं। यहाँ हमारी कोई बात भी सिर्फ़ हमारी नहीं होती। हम जो कुछ अपने लिए करते हैं उसमें भी दूसरों का हिस्सा होता है। हमारी कोई खुशी भी हमें खुश नहीं कर सकेगी अगर हमारे चारों तरफ़ ग़मनाक चेहरे इकट्ठे हो जायँगे। हम खुश रह कर दूसरों

को खुश करते हैं और दूसरों को खुश देख कर खुद खुश होने लगते हैं।"

इस समय भीलों की भगोरिया हाट के ढोलों की आवाज़ मेरी कल्पना में गूंज रही है। यह मेला होली से पहले लगता है जिसमें पुरुष सर्वोत्तम वस्त्र पहन कर आते हैं और हाथों में धनुष-बाण लेकर घेर में नाचते हैं। इस नृत्य में स्त्रियाँ सम्मिलित नहीं होतीं। वैसे दर्शकों के रूप में स्त्रियाँ बहुत बड़ी संख्या में आती हैं और घेर में खड़ी हो कर नृत्य का रस लेती हैं। ढोल की आवाज़ पर नृत्य की गत चलती है। आनन्द, वेदना और भय का रंग ढोल पर अलग-अलग दिखाया जाता है। यदि खुशी का ठाठ जमाना स्वीकार हो तो ढोलकिया दोनों हाथों से ढोल बजाता है। वेदना की अभिव्यक्ति के लिए वह केवल एक हाथ से ढोल बजायगा। भय के अवसर पर भी दोनों हाथों से ढोल बजाते हैं। पर इस समय हाथ बहुत वेग से और अटूट गति से चलाये जाते हैं। भीलों की परम्परायें ढोल की चिर ऋणी हैं। भय और संकट का ढोल जब एक गांव में बज उठता था तो उसकी आवाज़ चारों तरफ़ पहुंच जाती थी। और जब प्रत्येक दिशा में कबीले के ढोल इसी गत पर बज उठते थे तो लोग यह अनुभव करते थे कि हम अकेले नहीं हैं, मिल कर प्रत्येक संकट से टक्कर ले सकते हैं। भगोरिया हाट का नृत्य चरमसीमा पर पहुँचने से पहले ही कुछ भील युवतियाँ नाचने वाले युवकों में से अपने लिए दूल्हे चुन लेती हैं। भले ही परिवार के लोग इस प्रकार के ब्याह पर नाक-भौं चढ़ाते हैं। जीवन है कि नदी के समान अपने ही पथ पर बहता है। भगोरिया हाट के भीलों का सांस्कृतिक विकास में बहुत हाथ है और प्रत्येक भील यह समझता है कि भगोरिया हाट का नृत्य अनगिनत पीढ़ियों से समूचे कबीले को एक मुट्ठी में रखता आया है।

अन्त में गांव के मेले का पूरा चित्र दिखाने की दृष्टि से इन लोगों की बात भुलाई नहीं जा सकती जो सामूहिक उल्लास और मनोरंजन के अवसर पर भी हाथापाई से संकोच नहीं करते। कुछ लोग व्यर्थ ही शराब पी कर

एक-दूसरे की स्वतन्त्रता पर डाका डालते हैं। चित्र के इस रुख से घबराने की आवश्यकता नहीं। जनता की सामूहिक आवाज़ न कभी शराबियों का साथ देती है, न उनका जो बेकार ही रंग में भंग करते हैं।

जनता का यही विश्वास है कि मनुष्य मूलतः एक सदाचारी प्राणी है और केवल कुसंग के कारण वह दुराचार की ओर आकर्षित होता है और सौ बुराइयों के बावजूद उसे फिर से सुधारा जा सकता है। यही विश्वास जनता को यह अधिकार देता है कि वह त्यौहारों और मेलों के अवसर पर खूब चहल-पहल दिखाये। सच्चरित्र और शान्तिप्रिय मनुष्य की मुखाकृति इस पृष्ठभूमि में बराबर उभरती चली जाती है जो ऊँची आवाज़ से पुकार कर कहना चाहता है—मेले भी आते रहें।

बलवन्त सिंह

जी हाँ, यह एक उर्दू कहानी-लेखक की बात है जिसने एक स्थल पर स्वयं अपनी उपमा लक्का कबूतर से दी है। अब मैं कैसे अपनी हँसी को रोकूँ ? यों आसानी से तो शायद वह यह स्वीकार न करता। पर साहब, सच्ची बात मुंह से निकल ही जाती है। राजेन्द्र सिंह बेदी की चर्चा करते हुए बलवन्त सिंह ने लिखा है—"......एक क़दम पीछे राजेन्द्र सिंह बेदी चले आ रहे थे...... हम केवल एक-दूसरे की दाढ़ियां देख कर ही रुक गये......एक तरफ़ मैं लक्का कबूतर की तरह अकड़ा हुआ और दूसरी तरफ़ बेदी मन्दिरों-मस्जिदों में दाना चुगने वाले कबूतरों की तरह आराम से खड़ा था।"

दूसरों पर व्यंग्य कसने की यह तो पहली शर्त है कि आदमी स्वयं अपने ऊपर भी इसका वार सहने के लिए तैयार रहे। सचमुच बलवन्त सिंह को यह कला खूब आती है।

जब बलवन्त सिंह लाहौर में पहली बार मुझसे मिला तो उसने छूटते ही कहा—"देखो सत्यार्थी, मैं तुम्हारी 'हॉर्स सेन्स' यानी घोड़ा अक़्ल का कायल हूँ !"

मैं ज़रा घबराया। क्योंकि मुझे यह आशा न थी कि वह पहली ही मुलाक़ात में इतना खुल जायगा।

उसने फिर कहा—"तुम शायद मेरा मतलब नहीं समझे। यस माई डीयर, यह सब, तुम्हारी होर्स सेन्स बुद्धि की वजह से ही हुआ कि बचपन में ही तुम लोकगीतों में जुट गये। वैसे उस वक्त तुम्हें क्या मालूम था कि एक दिन टैगोर और गांधी भी तुम्हारे काम की दाद देंगे।"

मैं कुछ झेंप-सा गया। उसने उछल कर कहा—"यस माई डीयर, तुम घबरा गये। मैं तो तुम्हारी तारीफ़ कर रहा था।"

जी हाँ, मुझे बलवन्त सिंह के मुंह से 'यस माई डीयर' का सम्बोधन तो भला कैसे अप्रिय हो सकता था! उस समय मुझे याद आया कि यह वही कम्बख्त बलवन्त है जिसकी एक कहानी का कृष्णचन्द्र ने ज़िक्र किया था और मैं उससे मिलने के लिये उत्सुक हो उठा था।

फिर जब बलवन्त सिंह का प्रथम कहानी-संग्रह 'जग्गा' प्रकाशित हुआ तो लाहौर के मित्रों में वह बलवन्त सिंह जग्गा के नाम से विख्यात् हो गया 'जग्गा'—पंजाब का मशहूर डाकू। पर मेरे लिए यह सम्भव न था कि मैं बलवन्त सिंह को 'जग्गा' कह सकूँ। मैं सोचता कि कौन ख्वाह म ख्वाह मुसीबत मोल ले। बात यह थी कि मैं उसकी शारीरिक शक्ति का क़ायल था और कृष्णचन्द्र ने उसके सम्बन्ध में जो राय दी थी, वह भी कुछ ग़लत थोड़े ही थी—"बलवन्त सिंह देखने में पहलवान किस्म के सरदार जी हैं। उन्हें देख कर किसी कहानी का गुमान तो हो सकता है, पर कहानी-लेखक का नहीं। पर सत्य सदा कल्पना से ऊँचा होता है, महान् होता है, पृथक् होता है। बलवन्त सिंह उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से हैं जो केवल एक कहानी लिख कर ही अमर हो जाते हैं।'

एक बार बहुत दिनों तक बलवन्त सिंह लाहौर की साहित्यिक महफ़िलों में कहीं नज़र न आया तो सचमुच मुझे उसके बारे में बहुत चिन्ता हुई।

हालांकि बलवन्तसिंह का यही ख्याल है कि मुझे अपने सिवाय किसी की चिन्ता हो ही नहीं सकती। खैर, एक दिन बलवन्त सिंह अचानक मेरे यहाँ आया और बोला—"स्टेशन से सीधा तुम्हारे यहाँ चला आ रहा हूँ। बस माई डियर, कुछ न पूछो। मुझे इधर न कहानियों का होश रहा, न किसी और चीज़ का। मैं लाहौर को छोड़ना भी चाहूँ तो अब लाहौर मुझे नहीं छोड़ सकता। कुछ ऐसा ही है यह हमारा लाहौर।"

मैंने कहा—"भाई, इतने दिन कहाँ डुबकी मार गये थे?"

वह बोला—"पहले मेरे लिए परांठे बनवाने का इन्तज़ाम करा दो, और देखो, अगर साथ नींबू का अचार भी हो तो क्या बात है।"

अब मैं खुल कर यह तो न कह सकता था कि मेरे लिए 'जग्गा' का हुक्म टालना एकदम असम्भव है। मैं बिना कुछ कहे ही रसोई में उसका सन्देश दे आया।

अब इधर-उधर की बातें शुरू हुईं। मैंने कहा—"देखो भई, इधर मैंने तुम्हारी कई कहानियाँ पढ़ीं, 'ग्रन्थी' और 'दीपक' की क्या बात है! 'शहनाज़' का रंग उनसे हट कर है। पर भई, सच जानो, इधर मुझ पर तुम्हारा सिक्का बैठ रहा है।"

वह बोला—"क्या तुम सच कहते हो?"

"हाँ, भई!" मैंने ज़ोर देकर कहा, "मुझे झूठ कहने की क्या ज़रूरत है?"

वह बोला—"इसका सबूत?"

"सबूत?" मैंने चकित हो कर कहा, "इसकी भी ज़रूरत होती है?"

वह बोला—"मुझे सबूत ज़रूर चाहिए।"

सचमुच मैं सहम गया। मुझे यों लगा कि अगर अब मैंने सबूत न दिया तो 'जग्गा' मुझे उठा कर खिड़की से नीचे सड़क पर भी फेंक सकता है।

एक तरफ़ 'जग्गा' परांठों और नींबू के अचार की बाट जोह रहा था,

दूसरी तरफ़ उसे मुझसे यह सबूत चाहिए था कि मैंने सचमुच उसकी कहानियाँ बेहद पसन्द की थीं।

मुझे कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। उसने इशारे से मुझे लेखनी उठाने को कहा। फिर उसने मेरे सामने काग़ज़ का एक टुकड़ा रख दिया। बोला—"हाँ, तो मुझे सबूत चाहिए।"

मैंने इस काग़ज़ पर कुछ पंक्तियाँ लिख कर उसके हाथ में थमा दीं। इस बीच में पराँठे भी आ गये और जग्गा उन पर पिल पड़ा। उस समय मैंने महसूस किया मैं उससे कितना अलग हूँ। जिसकी खुराक ही कम हो वह लिखेगा क्या ?

फिर कोई डेढ़ बरस के लिए बलवन्त सिंह एक दम गुम हो गया। हज़ार ढूँढ़ने के पर कहीं नज़र न आया।

इस बीच में मैं दिल्ली चला आया था। एक दिन कनाट प्लेस में 'जग्गा' से भेंट हो गई। उसके हाथ में एक पुस्तक थी, जो वह मुझे दिखाना भी नहीं चाहता था।

आखिर किसी तरह मैं उसके हाथ से वह पुस्तक ले सका तो मैंने देखा कि उसके डस्टकवर पर कुछ पंक्तियाँ छपी हैं—

'बलवन्त सिंह की वैयक्तिक विशेषता उसके व्यक्तित्व की ओर एक स्पष्ट संकेत करती है। वह जीवन का कलाकार है—जीवन जो उसके जीते-जागते पात्रों के समान प्रवाहमान् है। वह कहानी-लेखक से कहीं अधिक एक चित्र-कार है। उसके यहाँ विभिन्न रंग कुछ इस प्रकार एक स्वर हो उठे हैं कि प्रत्येक रंग कलाकार की आत्मा का प्रतिबिम्ब लिए हुए नज़र आता है। उसकी लेखनी जीवन के किसी विशेष कोने तक ही सीमित नहीं। प्रतिक्षण मन की सीमाएँ फैलाती हैं, यहाँ तक कि पाठक का मानसिक क्षितिज भी कलाकार की प्रतिभा से छू जाता है। यदि 'तारो पूद' की कुछ कहानियाँ पंजाब के ग्राम्य-जीवन की परिचायक हैं तो उसके कुछ अध्ययन शहरी पात्रों

के गिर्द घूमते हैं। उसकी सचाई हर जगह क्रियाशील है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उसकी सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ उर्दू कहानी के इतिहास को प्रभावित करेंगी।'

इन पंक्तियों के नीचे मेरा नाम छपा था। इन्हीं पंक्तियों के द्वारा मैंने उस शाम 'जग्गा' से अपना पीछा छुड़ाया था। फिर भी मैं यह न समझ सका कि इन पंक्तियों में विशेष रूप से 'तारो पूद' का ज़िक्र कैसे आ गया।

वह सामने से हंसता रहा। फिर वह बोला—"यस माई डीयर, इसमें घबराने की क्या बात है? 'तारो पूद' की जगह तुमने मेरा नाम लिखा था। मेरे प्रकाशक ने मेरे नाम की जगह बदल कर 'तारो पूद' कर दिया, क्योंकि यह तो तुम देख ही सकते हो कि इस में वे सब कहानियाँ शामिल हैं जिनकी तुम तारीफ़ किया करते हो।"

फिर जब बलवन्त सिंह भी दिल्ली में 'पब्लिकेशन्स डिवीज़न' में चला आया तो सचमुच हम एक-दूसरे के बहुत ही क़रीब हो गये। कई बार यारों ने हमें भिड़ाना चाहा। पर हम बाल-बाल बच गये। इसमें मैं सबसे अधिक श्रेय स्वयं ही लेना चाहता हूँ। भले ही मुझे इससे भी इन्कार नहीं कि बलवन्त सिंह, जो देखने में लठैत किस्म का साहित्यकार है, भीतर से बहुत ही सुलझा हुआ आदमी है। सोचता हूँ, कि वह कैसे लाठी चलाता होगा—जैसा कि उसका दावा है।

एक दिन बलवन्त सिंह को मैंने दिल्ली के डिप्टी कमिश्नर की कोठी के लॉन में देखा। बोला—"मुझे बन्दूक का लायसेंस चाहिए।"

मैंने उसकी तरफ़ घूर कर देखा। वह बोला—"यस माई डीयर, घबराओ नहीं। मुझे शिकार का शौक़ है। मैंने सोचा क्यों न अपनी भी एक बन्दूक हो?"

फिर एक दिन पता चला कि इस बीच 'जग्गा' ने बन्दूक के बारे में दुनिया भर की वाकफ़ियत प्राप्त कर ली है।

अभी उस दिन एक साहब उस से मिलने के लिए आये हुए थे, जो पुश्तैनी शिकारी मालूम होते थे। यह भी पता चला कि इस व्यक्ति को भी लिखने का शौक है और साथ ही शिकार का भी इतना चस्का है कि एक बार उसने अपनी एक पुस्तक की पूरी रायलटी के कारतूस ही कारतूस खरीद लिए थे।

पूरे घंटे भर 'जग्गा' उस लेखक के साथ विभिन्न कम्पनियों की बनाई हुई बन्दूकों और उनमें प्रयोग में आनेवाले कारतूसों के बारे में बातचीत करता रहा।

मैंने बात का रुख बदलने के लिए बलवन्त सिंह की नई कहानी 'काले कोस' की चर्चा शुरू कर दी जो लाहौर से 'सवेरा' के नये अंक में छप कर आई थी। किस प्रकार पाकिस्तान बनने पर एक सिक्ख एक पड़ोसी मुस्लिम परिवार को अपनी रक्षा में पाकिस्तान की सीमा तक छोड़ने जाता है—यह था इस कहानी का कथानक, जिसकी मैंने जी खोल कर प्रशंसा की। शैली और स्थायी प्रभाव तो मुझे बहुत ही पसन्द थे, पर 'जग्गा' का ध्यान तो बन्दूक और कारतूसों पर जमा हुआ था।

मैंने झुंझला कर कहा—"एक बात सुन लो, फिर मैं चला जाऊंगा और तुम मज़े से बन्दूक और कारतूसों की बातें करते रहना।"

"यस माई डीयर, तुम अपनी 'हॉर्स सेन्स' का मुंह बन्दूक और कारतूसों की ओर मत मोड़ना।"

"हाँ हाँ, कहिए साहब," दूसरा व्यक्ति बीच में बोला, ।

"हाँ, तो कहो अब अगले उपन्यास का क्या कथानक सोचा है, बलवन्त सिंह? देखो भई, 'रात, चोर और चाँद' के रोमांस वातावरण की बजाय अब तो किसी जन-आन्दोलन के गिर्द ही अपने उपन्यास को घुमाना।"

"यस माई डीयर", बलवन्त सिंह ने मुझे छुट्टी देते हुए कहा, "मैं उन लोगों में से नहीं हूं जो उपन्यास को चूं-चूं का मुरब्बा समझते हैं और मेरे में

अपना निश्चय खूब जानते हैं।"

बलवन्त सिंह के लतीफ़े जैसे हर समय हवा में तैरते रहते हैं। वह खुश रहता है। उसे क्रोध बहुत कम आता है। आता भी होगा तो वह उसे अन्दर ही अन्दर पीने की कला जानता है। बात करने की अपनी शैली है।

पुस्तकों की दुकानों पर खड़े-खड़े नई पुस्तकों की ओर उसकी निगाहें उठ जाती हैं। जैसे कोई शिकारी जंगल में नये शिकार की टोह लगा रहा हो।

वह चाय का शौकीन है। जब चाहो चाय की प्याली में तूफ़ान उठता देख लो। कभी वह देहरादून और जौनसार बावर के बीच की किसी काल्पनिक सीमारेखा का उल्लेख करते हुए कह उठता है—"उस पार गया हुआ आदमी कभी वापस नहीं लौटा।"

"हाँ हाँ," मैं कहता हूँ, "किसी कहानी की ओर संकेत कर रहे हो, बलवन्त !"

"अजी कहानी को गोली मारो।"

ले-दे कर बात राजेन्द्र सिंह बेदी पर अटक जाती है। राजेन्द्र सिंह बेदी के रेखाचित्र का उल्लेख करते हुए वह उससे अपनी पहली मुलाक़ात की चर्चा छेड़ देता है।

चाय की प्याली में तूफ़ान और भी तेज़ी से उठ सकता है, यदि चाय के साथ गरम-गरम समोसों और ताज़े रसगुल्लों के अतिरिक्त बलवन्त सिंह के लिए आमलेट भी आ जाय। पर आमलेट मुझे यह स्वीकार नहीं।

बात कृष्णचन्द्र, मन्टो और अस्मत की ओर मुड़ जाती है, पर बहुत जल्द जहाज़ फिर पहली बन्दरगाह पर आ लगता है। वाह वाह यह भी क्या खूब बन्दरगाह है। जी हाँ, बात फिर बेदी को छूने लगती है।

समझ में नहीं आता कि बेदी की बात बार-बार क्यों सामने आ जाती है ? इसके दो ही कारण हो सकते हैं। या तो हम दोनों एक साथ बेदी

पर मरते हैं, या फिर हम दोनों को उससे एक-जैसी नफ़रत है। मुझे पहली बात ही सच मालूम होती है, क्योंकि बेचारा बेदी कभी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सका।

बलवन्त कहता है—"बेदी हमारा कुछ बिगाड़ना चाहे भी तो हम मुक़ाबले की चोट कर सकते हैं।"

मैं कहता हूँ—"बेदी तो बहुत क़ाबिल आदमी है।"

"है या था ?" बलवन्त पूछ बैठता है।

"भई, यों मत कहो। आखिर बेदी की कहानियों ने उर्दू साहित्य पर धाक जमा रखी है।"

"यस माई डीयर, तुम भी बस वह हो। और अब तो बेदी ने लिखना-लिखना छोड़ दिया। अब उसे सिनेमा से फ़ुर्सत नहीं। हाँ भई, पैसे वह खूब बना रहा है। हालांकि उसे शिकायत है मुझ से। कोई भला आदमी पूछे कि क्या मुझे रोटी खाने का भी हक नहीं ?"

एक बार फिर बात का रुख बेदी के रेखाचित्र की ओर मुड़ जाता है जो सचमुच बलवन्त सिंह की लेखनी का चमत्कार है।

"यस माई डीयर, मैंने लिखा है न," बलवन्त आँखें झपझपाते हुए कहता है, मैंने लिखा है, "बेदी नाटे कद का है, लगभग चौंसठ इंच, दुबला पतला। कहो मैंने क्या झूठ लिखा है ?"

"तुम भी किधर के लम्बे हो, मेरे यार, हाँ, बस तुम्हें दुबला-पतला कहने की भूल नहीं की जा सकती।"

फिर मैं थोड़ा साहस करके कहता हूँ—"कल, जसवन्त सिंह आर्टिस्ट मिला था, कहता था...."

"क्या कहता था जसवन्त ?"

"यही कि बलवन्त कम्बख्त खूब फैल रहा है नीचे से, जैसे कोई बेल नीचे से चौड़ी होती चली जाय।"

वह चाय का घूँट गले में उँडेलते हुए घूर कर मेरी तरफ़ देखता है। जैसे कहना चाहता हो—जसवन्त यह कभी नहीं कह सकता।

पिछले दिनों कृष्णचन्द्र दिल्ली आया तो हमें दो-तीन शामें उसके साथ गुज़ारने का अवसर मिला जिन्हें बलवन्त अक्सर 'लटकती हुई शामें' कहना ही पसन्द करता है।

उन लटकती हुई शामों की याद हमेशा ताज़ा रहेगी। मैंने देखा कि बलवन्त एक से एक बढ़ कर चुटकले सुना रहा है। पुराने चुटकलों में भी वह नया रंग भरता चला गया। उसने कुछ पंजाबी लोकगीत भी सुनाये, जो किसी भरी मजलिस में नहीं सुनाये जा सकते थे।

शायद यह चाय की प्यालियों का ही तूफ़ान था। हमने दुनिया भर को खोद डाला। अनेक साहित्यकार, अनेक कलाकार हमारे वार्तालाप को छूते चले गये। घूम फिर कर बात फिर किसी चुटकले पर अटक जाती और बलवन्त कुरसी से उछल कर पूछता—"हाँ तो अब कहिए, कृष्ण जी!"

मेरी जन्मभूमि

पूर्वी पंजाब का विशाल ग्राम्य प्रदेश, जहाँ खुली हवाएं चलती हैं, जीवन मचलता है। कहीं-कहीं जोतने-बोने योग्य भूमि भी नज़र आ जायगी जो कुछ समय से खाली पड़ी है। इसके बीचोंबीच रेत के टीले दूर क्षितिज तक चले गये हैं। हल की रेखाएं रेत की लहरों से मिलती हुई दूरवर्ती 'पंज-कल्याण' के रेतीले टीलों से जा मिलती हैं। पछुआ हवा की कोख से न जाने कितने अन्धड़ जन्म लेते हैं। ये अन्धड़ इतने रक्तवर्ण होते हैं या इतनी घनी कालिमा-युक्त कि सहसा चारों ओर अंधकार छा जाता है। प्रत्येक वर्ष पर्याप्त मात्रा में अपने साथ 'पंज कल्याण' की रेत ले कर आता है। और फिर बहुत-सी रेत दूसरी हवाओं के सहारे विपरीत दिशा में उड़ती हुई फिर वहीं जा पहुँचती है जहाँ से वह चली थी। इधर की एक लोकोक्ति भी तो है 'न्हेरी कित्थों उट्ठी? कल्याणां दे टिब्बियां तों'—अर्थात् अन्धड़ कहां से उठा? कल्याण के रेतीले टीलों से। ऐसी लोकोक्तियों की इधर कुछ भी तो कमी नहीं जो सचमुच यहाँ के निवासियों के लिये जीवन की पगडंडियां बन गई हैं: इन्हीं पर चलते-चलते एक दिन वे यहाँ से विदा लेते हैं।

क्या गोरी क्या साँवरी

अब तो कल्याण के टीलों वाली लोकोक्ति का प्रयोग प्रायः उद्दण्ड लोगों पर व्यंग्य कसने के लिए ही होता है।

कभी यह समूचा ग्राम्य प्रदेश जंगल रहा होगा। आज भी यदि हल और कुल्हाड़े को छुट्टी दे दी जाय तो सर्वत्र कीकर, जगड और शीशम के वृक्ष सिर उठाते चले जायंगे। मेडों और रास्तों पर वे अब भी उगते रहते हैं। पुराने जंगल के कुछ अवशेष अब भी रह गये हैं जिसे इधर की भाषा में 'झाड़ी' कहते हैं और जहाँ इधर के जमींदार सरदार साहिबान शिकार के लिए जाया करते हैं।

जब देखो वृक्ष कटते ही रहते हैं। पशु-पक्षियों का शिकार भी चलता ही रहता है। मृत्यु से तो मानव भी सुरक्षित नहीं रहता, भले ही यह थोड़ा पिछड़ कर आय। कभी कोई बीमारी आ दबोचती है तो कभी साँप काट लेते हैं या फिर मनुष्य आपस में कट मरते हैं। जी हाँ, खून की घटनाओं के लिए यह ग्राम्य प्रदेश प्रसिद्ध है।

वृक्ष फिर से उग आते हैं। हिरनों और खरगोशों का वंश भी कहां खत्म हो पाता है। फ़ाख्ताओं और कबूतरों को भी तो सदैव अपनी वंश वृद्धि का ध्यान रहता है। गांव की स्त्रियों में कोई कोखजली मुश्किल से ही मिलेगी और अधिकांश स्त्रियाँ ऐसी हैं जिन्हें बच्चे जनने से फ़ुरसत नहीं। जी हाँ, जनसंख्या की कमी का तो इधर प्रश्न ही नहीं उठता।

धरती ही वह नैसर्गिक पृष्ठभूमि है जिस पर वृक्ष और पक्षी, पशु और मनुष्य संघर्ष में संलग्न दिखाई देते हैं—मानो यह धरती न हो कर कोई ऐसा प्राचीन चित्रपट हो जिस पर आकृतियाँ बार-बार अंकित की गई हों।

धरती कहती है—मेरे बच्चो! तुम कैसे हो? तुम्हारी खुशी में ही मेरी खुशी है। तुम्हारे दर्द ही मेरे दर्द हैं। और तुम्हारे गीत भी तो मेरी ही कोख से जन्म लेते हैं, मेरा ही दूध पीते हैं। जी हाँ, मानव की सबसे

बड़ी थाती है युग-युग से चले आनेवाले लोकगीत जो प्रत्येक पीढ़ी को याद रहते हैं।

लोकगीत हों चाहे लोकनृत्य या फिर लोककथाएं—वे सब धरती के समान उर्वर रहती हैं। नृत्य समारोहों के समय जनता की रगों में एक नया ही रक्त प्रवाहित होने लगता है। लोग नाचते हैं तो ऐसे, मानो स्वच्छन्द उल्लास की घोषणा ही नृत्य का उद्देश्य हो। प्रत्येक लोकगीत और नृत्य की धुन और थिरकन से ताल मिलाता हुआ धरती का दिल धड़कता है। जी हाँ, गाँव-गाँव घूमने वाले गायकों और कथाकारों को भी तो नहीं भुलाया जा सकता जिनका प्रत्येक द्वार पर चिरपरिचित अतिथि के समान स्वागत होता है।

प्राचीन परम्पराओं के समान समय भी यहाँ मन्थर गति से चलता है। गीत हों चाहे नृत्य या फिर कथाएँ—वे सदा नई ही शक्ति से अनुप्राणित होते रहते हैं, जैसे शहद के छत्तों में नये मधु की मात्रा बढ़ती रहती है। जीवन की प्रशंसा लोग स्वाभाविक रूप से करते हैं, भले ही रोटी का संघर्ष कुछ कम कठिन नहीं होता और यों लगता है कि कहीं यह आनन्द के स्रोत को सुखा न डाले। इधर भी लोकवार्ता भगवान् और मानव के विरुद्ध उठनेवाली चीख-पुकार आर्थिक परिस्थितियों ही की गूंज है। नये युग का नवप्रभात इस ग्राम्य प्रदेश के क्षितिज को भी छू रहा हो।

यही तो भदौड़ है—मेरा जन्म-ग्राम, जो आज भी यह नाम प्राचीन भद्रपुर की सौ-सौ स्मृतियाँ लिए हुए है। गाँव से दो मील पश्चिम की ओर कभी राजा भद्रसेन ने भद्रपुर की नींव रखी थी। यह कई शताब्दियों पूर्व की बात है जब राजा पृथ्वीराज भी दिल्ली के सिंहासन पर आसीन न हुए थे। आज भी गाँव के वयोवृद्ध भद्रसेन के उस खज़ाने की चर्चा ले बैठते हैं जो उनके कथनानुसार खेतों में गड़ा हुआ है। यह और बात है कि किसी को भूल कर भी यह खयाल नहीं आता कि भद्रसेन के खज़ाने को खोद

निकाले और अपने घर में सोने की दीवारें खड़ी कर ले।

आज भी मैं कल्पना की आँखों से राजा भद्रसेन को देख रहा हूँ, और देख रहा हूँ कमलाक्षी राजकुमारी सुचित्रा को। वर्षा के देवता इन्द्र को रिझाने के लिए, जिससे और अधिक वर्षा हो, सुचित्रा सर्वोत्तम मयूरनृत्य नाचा करती थी और मर्मस्पर्शी गीत गाया करती थी।

कहते हैं कि एक बार सुचित्रा ने एक साधु की लंगोटी को, जबकि वह स्नान कर रहा था, कहीं छिपा दिया। साधु ने कुपित होकर उसे शाप दे डाला जिससे वह साँपिन बन गई। उसी साधु के शाप से नदी भी विलुप्त हो गई। सुचित्रा ने साधु की बड़ी अनुनय-विनय की, तो उसने कहा—"मैं अपना शाप वापस नहीं ले सकता। पर एक दिन एक महापुरुष इधर पधारेंगे। वही तुम्हें शापमुक्त करेंगे।" इसी शाप से, जैसा कि दन्तकथा में ज़ोर दे कर कहा जाता है, राजा भद्रसेन का राज्य भी सदा के लिए नष्ट हो गया।

इसके पश्चात् भद्रपुर एक नई जगह पर बसा और उसका नया नाम 'मल्लू गिल्ल' पड़ा। यह स्थान भदौड़ से डेढ़ मील के अन्तर पर है। फिर मल्लू गिल्ल के अनेक कृषक दोपहर की झुलसाने वाली धूप में किसी पुश्तैनी झगड़े में आपस में कट मरे। आज भी उस स्थान पर दोपहर के सन्नाटे में 'मर गये, मर गये, मर गये', 'पानी, पानी, पानी' की भयानक आवाज़ें चाहे जब सुनाई दे जाती हैं। और आज भी गाँव के बीसियों वयोवृद्ध किसान यह गाथा ले बैठते हैं।

इस दुर्घटना के पश्चात् मल्लू गिल्ल अपने स्थान से हट कर उस स्थान पर आ गया जहाँ आज का भदौड़ बसा हुआ है। पहले इसका नाम वही भद्रपुर रखा गया जो बिगड़ते-बिगड़ते भदौड़ हो गया। यह बात भारत में मुग़ल साम्राज्य के स्थापित होने के लगभग एक शताब्दी पहले की होगी।

अब तो खैर गाँव ने खूब बाँहें फैला रखी हैं और चतुर्दिक खेत ही खेत नज़र आते हैं। पर उन दिनों यह बड़ी छोटी-सी बस्ती रही होगी और जैसा कि लोग अब भी बताते हैं न केवल बहुत-सी कृषि-योग्य भूमि जंगल से ढकी हुई थी बल्कि जंगल ने इस गाँव के अधिकांश भाग को अपने अंचल में ले रखा था।

पुरातन दन्तकथाओं में आज भी मल्लू गिल्ल के प्रसिद्ध वीर बामा की स्मृति जीवित है जिसकी समाधि हमारे गाँव से दो मील दूर स्थित 'बामियाना' में है, जहाँ सैदो गाँव के खेत हमारे गाँव के खेतों से मिलते हैं। कहा जाता है कि धड़ से सिर अलग हो जाने के बाद भी बामा लड़ता रहा। बामियाना वह स्थान है जहाँ लड़ते-लड़ते यह योद्धा वीरगति को प्राप्त हुआ। आज भी जब किसी युवक का विवाह होता है, सैदो गाँव के लोग दूल्हा दुल्हन को वीर बामा का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उसकी समाधि पर भेजते हैं और प्रति वर्ष गेहूँ की फ़सल काटने से पूर्व इस स्थान पर एक मेला भी लगता है।

गाँव के ज़मींदार सरदार साहिबान बाबा फूल के सुपुत्र रामा के वंशज हैं जिसे स्वयं गाँव वालों ने बुलाया था और उपज का एक भाग देने का वचन दिया था। उस समय लोगों को डाकू लूट लिया करते थे। रामा ने इस संकट से लोगों की रक्षा की थी।

गाँव का गुरुद्वारा अब भी पुरानी स्मृतियों को अपने अन्तरतम में छिपाये खड़ा है। आरम्भ में यह पेड़ों के बीच में बाबा चरणदास द्वारा बनाया गया मिट्टी का एक घर मात्र था। एक दिन गुरु गोबिन्दसिंह बाबा से मिलने आये और तलैया के किनारे खेमा डाल कर ठहरे। गुरु के आगमन के उपलक्ष्य में इस तलैया का नाम सत गुर्यानी पड़ा। गुरु जी ने देखा कि एक सांपिन उनकी ओर चली आ रही है। पर उन्होंने अपने भक्त सैनिकों को आज्ञा दी कि सांपिन को कुछ न कहा जाय। सांपिन आई और उसने गुरु के चरणों

पर अपना सिर रख दिया। फिर वह उठ न सकी। गुरुजी के आदेशानुसार साँपिन की समाधि के लिए बाबा चरणदास का स्थान चुना गया। यह राजा भद्रसेन की कन्या सुचित्रा थी। आखिर महापुरुष आ ही पहुँचा और सुचित्रा शापमुक्त हो गई। जी हाँ, साँपिन की समाधि आज भी गुरुद्वारे के प्रांगण में स्थित है, जहाँ श्रद्धालु आते हैं और नतमस्तक हो जाते हैं।

: २ :

यह है मेरी जन्मभूमि, जहाँ मेरे पूर्वज अपने ऊँटों पर माल लाद कर काबुल तक जाया करते थे। मेरे पूर्वज ही क्यों, उन दिनों ऐसे अनेक व्यापारी थे। बड़े-बड़े क़ाफ़िले जाते और आते, व्यापार चलता रहता। अंगरेज़ी राज्य के विस्तार के साथ-साथ यह व्यापार ठप होता चला गया। उस समय मेरे दादा बालक ही थे। उन्होंने फ़ारसी पढ़ी और वे पटवारी हो गये। फिर तो हमारे परिवार के कई सदस्य पटवारी रहे। और आज जब कि हमारे परिवार का एक भी सदस्य पटवारी नहीं है, गाँव में ही नहीं, आस-पास के देहात में भी हमारा परिवार पटवारियों का परिवार कहलाता है।

अब तो हमारे में भी शायद किसी को ही मालूम हो कि हमारे पूर्वज अपने ऊँटों पर माल लाद कर काबुल जाया करते थे। मुझे स्वयं परिवार के इस विस्मृत इतिहास का पता न चलता, यदि मैंने घर में उस समय का बचा हुआ चमड़े का एक भारी भरकम कुप्पा न देखा होता। फिर वह कुप्पा न जाने कहाँ चला गया और फिर मैं उसे कभी न देख सका। मुझसे न रहा गया और पिता जी से पूछ ही बैठा कि कुप्पा कहाँ चला गया। पता चला कि इस कुप्पे ने व्यर्थ ही बहुत-सी जगह घेर रखी थी, इसलिए किसी को दे दिया गया। साथ ही मुझे मालूम हुआ कि एक वह भी समय था जबकि ऐसे न जाने कितने कुप्पों में हमारे पूर्वज तेल और घी ऊँटों पर लाद-लाद कर काबुल की ओर ले जाया करते थे।

ऊंट लादनेवालों की स्मृति आज भी गिद्धा नृत्य में गूंज उठती है—

उठा वालियां नूं ना देईं मेरी, माए!

तड़के उठके लद जाणगे,

साडे धरे मुकलावे छड्ड जाणगे!

—'ऊंट वालों के यहाँ मुझे मत देना, मेरी माँ!

वे तो सवेरे ही उठ कर चल देंगे

उनका काफ़िला तो गौने के दिन भी नहीं रुकने का।'

काफ़िले का अपना प्रवाह होता था जो किसी के रोके नहीं रुक सकता था। जी हाँ, गिद्धा की नर्तकी की शिकायत एक तीखा व्यंग्य लिए हुए है क्योंकि काफ़िला प्रायः आधीरात को ही चल पड़ता था और काफ़िले में चलने वाले लोग कुछ इतने निर्मोही हो जाते थे कि उनमें ऐसे युवकों की कमी न रहती थी जो गौना भले ही छोड़ दें पर काफ़िले का साथ छोड़ना स्वीकार नहीं था।

मेरी रगों में उन्हीं ऊंट लादने वालों का रक्त प्रवाहित हो रहा है। इसी ने निरन्तर घूमते रहने की मेरी प्रवृत्ति को जन्म दिया, बल दिया। मुझे याद है कि किस प्रकार पहले-पहल मैं अपने घर से भागा था। फिर कोई दो वर्ष बाद घर लौटा तो मुझे विवाह के बन्धन में बांध दिया गया। पर इससे क्या होता था। मैं फिर भाग निकला और जब दो वर्ष के पश्चात् घर लौटा तो यह तो न हो सकता था कि घूमने की प्रवृत्ति का गला घोंट दूं। हाँ, यह मुझे भी स्वीकार था कि दुल्हन भी मेरी तरह निरन्तर घूमते रहने की प्रवृत्ति को अपना ले। जी हाँ, ऐसा ही हुआ भी।

जब कभी मैं सुदूर क्षितिज को देखता हूँ तो मेरी कल्पना आलोकित हो उठती है और ऊंटों की घंटियों की टन-टन मेरे कानों में गूंजने लगती है। पुराने काफ़िलों की यादें मेरे मन को छू-छू जाती हैं।

पर मैं इस प्राम्य प्रदेश को भी कहाँ भुला सकता हूँ, जहाँ पुरातन काल

में चतुर्दिक जंगल ही जंगल रहा होगा। जंगल की स्मृति ने यहाँ के गीतों को आज भी अनुप्राणित कर रखा है।

सतलज का पानी खींच कर लानेवाली नहर के पुल के पास एक पुराना वट-वृक्ष है जिसके तने पर मैं अनेक वर्षों की कहानी पढ़ लेता हूं। पर गाँव का सबसे पुराना वट-वृक्ष नहर से दूर उस पोखर के किनारे पर है जिसमें बरसात का पानी दूर-दूर से आकर इकट्ठा हो जाता है। वैसे तो यहाँ के एक-एक वृक्ष से मुझे हार्दिक स्नेह है। जी हाँ, मुझे याद है कि किस प्रकार एक दिन 'काली बोली' आंधी ने नीम के वृक्ष को जड़ से उखाड़ फेंका था और मुझे सचमुच उतनी ही वेदना हुई थी जितनी परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु पर हुई होती।

मैं जानता हूं कि वयोवृद्ध पीपल, जो हमारे घर के समीप खड़ा है, अनेक काली बोली आंधियों की चपतें सहता आया है। सूर्य की पहली किरणों में जब इसके पत्ते-पत्ते पर सोने का पानी फिर जाता है, यह मेरी ओर देख कर आज भी मुस्करा उठता है जैसे उसे शत-शत पूर्वजों का इतिहास याद हो, जैसे वह जंगल की पूरी कहानी सुना सकता हो।

मेरे बचपन का साथी नूरा गड़रिया आज भी वही पुराना गीत गा उठता है—

पिप्पल दिआ पत्तिया वे, केही खड़-खड़ लाई ए?
पुराणियां झड़ पौ वे, रुत्त नवियां दी आई ए!

—'ओ पीपल के पत्ते, कैसी खड़खड़ लगा रखी है?
ओ पुराने पत्त, अब गिर जा, नये पत्तों की ऋतु आ गई।'

होमर के समान नूरा भी अपने पुराने गीत के शब्दों में यह विश्वास करता प्रतीत होता है कि मानव जाति पीपल के पत्तों के समान है। जी हाँ, एक दिन उसे भी सूखे पत्ते के समान संसार से विदा लेनी होगी।

यह ग्राम्य प्रदेश आज भी चारों ओर जंगल के नाम से प्रसिद्ध है।

नूरा भी जंगली है, ठीक अपने पूर्वजों के समान, जिनके गीत और कथाएँ अनेक पीढ़ियों के इस पार उसे थाती में मिली हैं। उसकी विचारधारा आज भी प्रकृति पूजा की भावना लिए हुए है। यों लगता है जैसे पृथ्वीपुत्रों के स्वरों में आज भी पुराने जंगल की वार्ता मुखरित हो उठती हो। ये लोग सदा एक रहस्यमय उल्लास के साथ गाते आये हैं।

वृक्ष भी गाते हैं। नूरा से पूछ देखिये। उसके गीत इसके साक्षी हैं—

बिरछां दे गीत सुण के
मेरे दिल विच्च चानण होया

—'वृक्षों के गीत सुन कर
मेरा हृदय आलोकित हो उठा।

प्रत्येक वृक्ष पृथ्वीपुत्र है। प्रत्येक वृक्ष की अपनी आत्मा है। एक धैर्यवान् श्रोता के रूप में प्रत्येक वृक्ष मानव के रहस्य जानता है। एक फ्रेंच लोकोक्ति है—'जंगल, जो सब कुछ सुनता है, एक-एक रहस्य का भेद जानता है।' सावधान, कहीं किसी पुराने पीपल या वट-वृक्ष पर किसी प्रेतात्मा का निवास न हो! मैंने वयोवृद्ध व्यक्तियों को ऐसा कहते सुना है, भले ही मैंने स्वयं नहीं देखा कि मृत व्यक्तियों की आत्मा, जो कि किसी वृक्ष में निवास करती है, कभी-कभी परी का रूप धारण कर लेती है और आने-जाने वालों को अपने जादूभरे नाच से लुभा लेती है। और वह वृक्ष, जिसमें वह आत्मा निवास करती है, उस जादूभरे नृत्य से उल्लास प्राप्त करता है।

नूरा के मुख से पुरातन दन्तकथाएँ सुनते-सुनते मुझे स्वीडन के उस लोकगीत का स्मरण होता है जिसमें एक परी की चर्चा की गई है; जब वह नाचती तो उसकी गत पर वृक्षों के पत्ते भी झूम उठते थे।

नूरा को एक ऐसी कुमारी की कथा याद है जिसकी भाभियों ने उसकी हत्या कर दी थी। मरने के बाद वह वृक्ष में परिणत हो गई और आने-जानेवालों से अपनी दर्दभरी कहानी कहती रही। जैसा कि नूरा की कथाओं

का अनुरोध है, मृत्यु के पश्चात् भी जीवन की धारा अविच्छिन्न रहती है। और यह सत्य भी है कि जीवन मृत्यु से परिचित होना नहीं चाहता। जीवन अमर है। कुमारी के रक्त से उग आनेवाला वृक्ष इस सत्य का रहस्यात्मक प्रतीक है।

अनेक लोक-कथाओं में महान् सिकन्दर की चर्चा आती है। व्यास नदी के तट पर २०० वर्ष पुराना एक पीपल का पेड़ था। पूर्णिमा की रात को वह मनुष्य की भाषा में भविष्यवाणी कर सकता था। इस वृक्ष को संस्कृत का वैसा ही ज्ञान था जैसे किसी पण्डित को होता है। सिकन्दर इसके पास आया और बोला—"ओ पीपल, मेरा भविष्य बताओ।"

वृक्ष ने कहा—"अब तुम अपनी प्रिय जन्मभूमि को कभी न देख सकोगे।"

सिकन्दर को कुछ घबराहट हुई—"मेरे सैनिको, चलो, हम वापस लौट चलें। पीपल की आवाज़ सही न होनी चाहिए। हमें वतन को वापस पहुँचना ही चाहिए। अब विश्व-विजय मुझे नहीं चाहिए।"

पर सिकन्दर रास्ते ही में मर गया। पीपल की भविष्यवाणी सही निकली!

लोक-कवि कल्पना करता है कि सिकन्दर की मृत्यु पर उसकी माता शोक कर रही है। कब्र उससे पूछती है—"तुम्हारा संकेत किस सिकन्दर की ओर है, नारी? मेरा परिचय तो कितने ही सिकन्दरों से हो चुका है।" जनता के लिए सिकन्दर की मृत्यु इस बात का प्रतीक है कि अंध-शक्ति की पराजय होकर रहती है और सिकन्दर बार-बार जन्म लेता है। पर मनुष्य एक दिन विश्व-बन्धुत्व की स्थापना में सफल होगा, न कि विश्व-विजय में, जो एक घृणास्पद चीज़ है। विश्व-बन्धुत्व समस्त मानवता के लिए वास्तविक शान्ति का द्वार खोल देगा। हर कोई वास्तविक स्वतन्त्रता का रस लेगा, हर कोई पेट-भर भोजन पायगा।

मैं चाहता हूँ कि नूरा दन्तकथाओं की भूल-भुलैयां से निकल कर

वास्तविकता की धरती पर खड़ा हो कर हर चीज़ को देखे। बीसवीं शताब्दी की विचारधाराएँ और आधुनिक जीवन के संघर्ष की लहरें, उसके मन को पकड़ना चाहती हैं, पर वह सहज ही में बदलने वाला प्राणी नहीं। वह खूब जानता है कि वह साहूकार, जो पैसे जोड़ता और उसे अपना बड़प्पन दिखाता है, काफ़ी बदल गया है। इसी तरह सरदार साहबान तथा अन्य धनी लोग भी पहले से बहुत बदल गये हैं। पर वह तो उसी पुराने संसार में रहता है। खुदा और क़िस्मत—बस यही दो चीज़ें उसके दिमाग़ में घुसी हुई हैं। वह कहता है कि खुदा के हुक्म के बिना पीपल का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, भले ही वह देखता है कि पत्ते तो हवा से हिलते हैं। नूरा को कब अक्ल आयगी? कोई भूखों मरता है, यह खुदा की मर्ज़ी है! कोई अधिक कमाता है तो खुदा उसकी मदद करता है! मैं सचमुच उसके साथ सहमत नहीं हो पाता। आख़िर उसे भी गेहूँ की रोटियाँ क्यों न मिलें? उसकी भेड़ें और बकरियाँ क्यों न अधिक मोटी-ताज़ी नज़र आयें? कब तक वह खुदा की मदद की बाट जोहता रहेगा? किसी भी पैमाने से जाँचा जाय, वह क़िस्मत का गुलाम ही साबित होगा। कब उसे नई कमीज़ मिलेगी जिसे वह उस पुरानी कमीज़ की जगह पहन सकेगा, जिस पर हर जगह भद्दे पैबन्द लग रहे हैं?

वह राजकुमारी सुचित्रा के सपने देखता है। मैं भी उन्हें देखता हूँ। हम दोनों में यहाँ सामंजस्य है। मैं उससे कहता हूँ कि सुचित्रा स्वप्न में गाती हुई मुझसे कहती है—

वंशी की संगीतमयी तान हूँ मैं,
या मुझे मयूर-नृत्य की एक थिरकन समझो।
माँ कहती है—तुम्हारे मुख पर केसर झलकता है,
मैं कहती हूँ—नहीं, माँ! मैं कुन्दन की चमक हूँ,
मेरा हृदय अभी अधखिला पुष्प है।

हिरन समझता है कि मैं हिरनी हूँ,
मैं कहती हूँ—ओ जंगल के राजकुमार, मैं तो अभी माँ की दुलारी हूँ।
मोर कहता है—आओ, हम नाचेंगे,
मैं कहती हूँ—जंगल के नर्तक, मैं तो पिता की आज्ञा मानती हूँ।

फिर ऊँट-सवार आकर कहता है—मेरे पीछे बैठ जाओ,
हम बहुत दूर जायँगे।
नूरा पूछता है—"और यह ऊँट-सवार कौन है ?"
मैं कहता हूँ—"मैं ही तो हूँ वह ऊँट-सवार।"

"तो अल्लाह की दुआ से वह तुम्हारे पीछे ज़रूर बैठ जायगी," नूरा मचल कर कहता है, "पर यह तो कहो कि तुम उसे कहाँ ले जाओगे ?"

"मैं उसे बहुत दूर ले जाऊँगा," मैं उत्तर देता हूँ, "काबुल के उस पार !"

और फिर मैं उसे रूसी चरवाहों के बारे में बताता हूँ। उसे अचरज होता है कि चरवाहे भी लिख-पढ़ सकते हैं ! कोई किसान अख़बार भी पढ़ता होगा—यह बात उसे कोरी गप ही लगती है।

"तो क्या वे भी गाते हैं ?" वह पूछता है।

"हाँ हाँ, वे भी गाते हैं," मैं अपनी जगह से उछल कर कहता हूँ, अरे नूरे, 'बुलबुल का गीत'—रूसी चरवाहों का प्रिय गीत है।"

"मैं भी तो सुनूं।"

"रूसी भाषा तो ख़ैर मैं भी नहीं जानता, अरे नूरे ! हाँ गीत का भाव ज़रूर बता सकूंगा। अच्छा तो सुनो—

दूर दिशा की ओर बुलबुल उड़ चली ;
विदा, ओ प्रिय बन्धुओ,
अब मुझे तुम्हारा साथ छोड़ना ही होगा,

पंखों में उड़ान भरने का समय आ गया ।

दूर दिशा की ओर बुलबुल उड़ चली ;
धूप में चमकते दूर के देशों की ओर,
तुम्हारे समस्त प्यार के लिए तुम्हें मेरा धन्यवाद,
तुम्हारी कोमल दयालुता के लिए तुम्हें मेरा धन्यवाद ।

बचपन से ही मुझ बलबुल को तुमने पाला-पोसा,
रात उतरने पर मुझे गाने की स्वतन्त्रता दी,
मेरे बच्चों को तुमने कभी कष्ट न दिया,
काश ! मैं खुशी से यहाँ थोड़ा और रुक सकती ।

पर तुम्हारे जाड़े की रातों में मैं बुरी तरह ठिठुर जाती हूँ,
तुम्हारी सफ़ेद बर्फ़ों से मुझे कितना भय लगता है !
तुम्हारी सर्द हवाओं से मुझे कितना भय लगता है !

जब सुनहला वसन्त फिर से लौट आयगा,
मैं एक बार फिर तुम्हारा स्वागत करूँगी ।
अपने मीठे गीतों से, मैं तुम्हारा स्वागत करूँगी ।

कहो कैसा लगा बुलबुल का गीत नूरे ? आज़ाद बुलबुल ही नया गीत गा सकती है, क्योंकि आज़ादी के बिना भी कोई जीवन है । आज़ादी का पहला मतलब है भरपेट रोटी ।"

अब उसकी मुखमुद्रा से यों लगता है जैसे वह एक यथार्थवादी हो और इतिहास के पहियों को घूमते हुए देख सकता हो । वह मुस्कराता है । गाँव

की नहर में सतलज का जल बह रहा है। नहर के किनारे भेड़ें और बकरियाँ खुशी-खुशी चर रही हैं। नूरा उनमें से हर एक को प्यार करता है और किसी किसी को तो वह इतने प्यारे नाम से बुलाता है कि उसके कवि होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

: ३ :

पूर्वी पंजाब का यह भाग ठेठ मालवा कहलाता है। मालवा तो वैसे सारा पूर्वी पंजाब है, पर इस ग्राम्य प्रदेश के मालवा होने में तो कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इधर की भाषा में ही पंजाबी की 'मलवई' बोली का शुद्ध रूप मिलता है। इधर के निवासी अपने को साधारण मलवइयों के बाप समझने के लिए तैयार रहते हैं, वह ऐसे कि वे कहते हैं और कोई मलवई हो न हो वे अवश्य असली मलवई हैं। इधर वालों को क्या ख़बर कि मध्य भारत में भी कोई प्रदेश मालवा के नाम से विख्यात है, नहीं तो वे उछल कर कह सकते हैं कि हम उस मालवा के मालवियों के भी बाप हैं।

अभी अगले ही दिन पुरातत्त्व और नृशास्त्र के एक विद्वान् से बात हो रही थी। पता चला कि मालव नाम की एक जाति पहले पूर्वी पंजाब में बसी हुई थी, फिर वह जाति यहाँ से हट कर मध्य भारत में जा बसी। उसी से मध्य भारत के उस प्रदेश का नाम मालवा पड़ गया। वाह वाह, क्या बात कह दी मेरे मित्र ने। अब मैं कह सकता हूँ कि पहले नूरा और मैं मालवीय हैं फिर कोई और। वाह वाह, हम मालवीय हैं।

सरदार साहबान के पुराने निवासस्थान जिनमें से प्रत्येक के लिए 'क़िला' शब्द का प्रयोग किया जाता है, अब गिरते जा रहे हैं। दो-तीन किले तो इसलिए खंडहर बन गये कि वंश ही आगे चलने से रह गया। बाक़ी किले भी गिर रहे हैं, क्योंकि सरदार साहबान के नये वंशज उनकी

परवाह नहीं करते। परवाह भी कैसे करें? जन-आन्दोलन ने इस ग्राम्य प्रदेश का आंचल भी छू लिया है। किसान, जो सरदार साहबान के मुज़ारे हैं, अब बहुत ज़ोर पकड़ गये हैं। न वे बटाई देना चाहते हैं और न वे कनकूत का नियम पालन करते हुए ही वे सरदार साहबान के घर नये अन्न का एक भी दाना जाने देना चाहते हैं।

शुरू-शुरू में जब यह किसान आन्दोलन चला तो स्त्रियाँ भी जलूस बना-बना कर सरदार साहबान के किलों के दरवाज़ों पर सियापा करने जाया करती थीं और जलूस में चलते हुए वे सम्मिलित स्वरों में गाया करती थीं—

देना नी कणक दा दाणा,
बच्चा बच्चा कैद होजे!

—'हम गेहूं का एक भी दाना नहीं देंगे,
बच्चा-बच्चा भले ही कैद हो जाय।'

रियासत की ओर से किसानों को लाख धमकाया गया, सरदार साहबान ने पुलिस और कचहरी की मदद से किसानों को वश में करने में कोई कसर उठा न रखी, पर इतिहास की बदलती हुई धारा को रोकना सहज न था।

यह बात देश के बटवारे और स्वतन्त्रता के जन्म से बहुत पहले की है। पर जहाँ तक सरदार साहबान को कुछ देने की बात है, किसानों का पल्ला ही भारी चला आता है। इसे गतिरोध भी कह सकते हैं, क्योंकि सरकार को भी तो किसान कुछ नहीं देते। सरकार के खज़ाने में मालिया सरदार साहबान को ही जमा कराना होता है। वह इस आशा पर कि शायद एक दिन बिगड़ी बात बन जाय और किसान फिर सीधे हो कर सरदार साहबान के अधिकार पहचानें और फिर से उनकी जेबें गरम होने लगें। जी हाँ, अभी तो सरदार साहबान पिछली कमाई पर ही जी रहे हैं, उसी से

सरकारी खज़ाने में मालिया जमा कराते हैं ।

हाँ, एक बात तो मैं भूल रहा हूँ । बहुत सी भूमि ऐसी भी तो है जिस पर सरदार साहबान का सीधा अधिकार है । उसकी उपज पर उन्हीं का अधिकार है ।

नूरा कहता है—"इस तरह सरदार साहबान कब तक मौज करेंगे ?"

"अब जब तक वे मौज कर सकें," मैं उत्तर देता हूँ, "तुम देखते जाओ ।"

नूरा को इधर-उधर से खबरें मिलती रहती हैं । वह जानता है कि सब जगह ज़मींदारी खत्म हो रही है ।

मैं हँस कर कहता हूँ—"तुम तो बस एक चरवाहे हो, नूरा ! ये भेड़-बकरियाँ ही तुम्हारी जायदाद हैं ।"

"जी हाँ, जी हाँ," वह हँस कर कहता है, "ये भेड़-बकरियाँ मुझसे कौन छीन सकता है ?"

काश ! आज राजा भद्रसेन आ कर देख सकते कि उनकी राजधानी ने क्या रूप धारण कर लिया । अब तो लोग राजा भद्रसेन को भी न पहचानें । सरदार साहबान को तो वे खरी-खरी सुनाते हैं । मैं देख रहा हूँ कि मेरी जन्मभूमि में इतिहास के पहिये कितनी तेज़ी से चल रहे हैं ।

अलका भी मिल गई

रा जबहादुर सिंह के पेट में हँस-हँस कर बल पड़ गये, जब मैंने उन्हें बताया कि अलका मेरे जन्मग्राम से दो ढाई कोस की दूरी पर है। पहले तो वे इस बात पर देर तक हँसते रहे थे कि मेरा जन्मग्राम जिसका ऊट-पटांग-सा नाम है भदौड़, किस प्रकार राजा भद्रसेन की पुरानी नगरी 'भद्रपुर' का बिगड़ा हुआ रूप माना जा सकता है।

मैंने कहा—"भद्रपुर से ही 'भदौड़' बना, इसकी एक दलील यह भी तो दे सकता हूँ कि मेरे जैसे भद्रपुरुष ने वहाँ जन्म धारण किया।"

पास से मेरी पत्नी कह उठी—"इनकी बातों पर न जाइए। भदौड़वालों के चाटे हुए तो वृक्ष भी हरे नहीं हो सकते।"

मैंने पलट कर कहा—"राज बहादुर जी, इन्हें शायद हमारे परिवार से कोई पुरानी शिकायत चली आती है। भई, सारे भदौड़ का तो इसमें क्या कसूर हो सकता है?"

मेरी पत्नी बोली—"भदौड़ के बन्दे तो ऐसे हैं कि सवेरे उठ कर उनका मुंह देखने से दिन भर खाने को न मिले।"

ख़ैर, बड़ी मुश्किल से मैं बात का रुख़ भदौड़ की ओर से मोड़ कर 'अलकड़े' ग्राम की ओर ला सका। मैंने कहा—"आपको विश्वास नहीं होगा, पर है यह सत्य कि 'अलकड़े' अलकापुरी का ही बिगड़ा हुआ रूप है।"

"जी हाँ," राजबहादुर सिंह ने व्यंग्य कसा, "भदौड़ भद्रपुर का बिगड़ा हुआ रूप है तो अलकड़े भी अवश्य अलकापुरी का ही बिगड़ा हुआ रूप होगा। वहाँ पुरातत्त्व का कोई अवशेष अवश्य बचा रह गया होगा ?"

"नहीं तो"

"तो फिर ?"

"तो फिर क्या ? वहां तो खंडहर नाम को भी नहीं मिलेगा।"

"तो क्या वहाँ कोई पुराना टीला है जिसकी खुदाई कराई जाय ?"

"ऐसी बात भी नहीं है।"

"तो फिर अलकड़े को कैसे अलकापुरी मान लिया जाय ?"

: २ :

एक दिन राजबहादुर सिंह बहुत सवेरे हमारे यहाँ आये। चाय के साथ मेरी पत्नी ने पकौड़े भी भेज दिये। मैंने हंस कर कहा—"देखिए, राज बहादुरजी, मैंने इधर एक और अनुसन्धान किया है।"

"एक और अनुसन्धान ?" राजबहादुर सिंह ने पकौड़ों की प्लेट की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा, "अलकापुरी का अनुसन्धान तो आप पहले ही कर चुके थे। हाँ तो दूसरा अनुसन्धान अवश्य पुरातत्त्व से संबन्ध रखता होगा।"

"नहीं तो," मैंने संभल कर कहा, "बात इन पकौड़ों की है, जिन्हें अकसर पंजाबी में पकौड़े कहा जाता है। ये पकौड़े सर्वप्रथम कहाँ तैयार किये गये थे ? मुझसे कोई पूछे तो मैं तो यही कहूंगा कि सर्वप्रथम अलकापुरी में ही ये पकौड़े तैयार हुए थे।"

"वाह वाह," राजबहादुर सिंह ने हँसते हुए कहा, "आपको यहाँ बैठे-बैठे

दूर की बात सूझ जाती है।"

मैंने देखा कि इस हँसी में राजबहादुर सिंह के मुँह से चाय का घूँट फव्वारे की तरह उछला। कुछ छींटे मुझ पर भी पड़ गये थे। मैंने गम्भीर होकर कहा—"अब आप इसी से समझ सकते हैं कि अलकड़े ग्राम में आज भी सबसे अच्छे पकौड़े मिलते हैं।"

राजबहादुर सिंह ने चमक कर कहा—"अलकड़े और पकौड़े में जो ध्वनि साम्य है, उसी से आपको इस अनुसन्धान में सफलता मिली होगी।"

"अब मज़ाक तो हर चीज़ का उड़ाया जा सकता है," मैंने वकालत की, "पर मैं तो अलकड़े ग्राम की संस्कृति पर पूरी पुस्तक लिख सकता हूँ।"

"पुस्तक क्यों पुस्तकमाला कहिए," राजबहादुर सिंह ने व्यंग्य कसा।

मैंने गम्भीर होकर कहा—"जब बालक गोद में सोने लगता है तो अलकड़े ग्राम की माताएँ आज भी कहा करती हैं—अब वह समुद्र की आग बुझाने जा रहा है। वैसे तो अब मेरे जन्मग्राम में भी सोते बच्चे को देखकर यही बात कही जा सकती है, पर मेरा अनुसन्धान इसी बात का साक्षी है कि सर्व-प्रथम अलकड़े ग्राम में ही माँ ने यह कल्पना की थी।"

राजबहादुर ने कहा—"मालूम होता है आप अलकड़े ग्राम पर अपनी पुस्तक अवश्य लिखेंगे। क्या अलकड़े ग्राम के पास कोई नदी बहती है।"

"वहाँ तो कोई नदी नहीं बहती।"

"फिर आप ही बताइए कि समुद्र की आग बुझाने वाली बात कितनी हास्यास्पद है। नदी तो देखी नहीं अलकड़े की स्त्रियों ने, समुद्र की बात ले बैठीं। अब क्या कहा जाय? खैर, आप तो अपनी पुस्तक में इसको लेकर पूरा अध्याय लिख डालेंगे। अनुसन्धान जो हुआ।"

मैं कुछ-कुछ झेंप-सा गया। बात का रुख बदलते हुए मैंने कहा—"आपके आने से पूर्व मैं रूसी लोकोक्तियों पर एक पुस्तक पढ़ रहा था।"

राजबहादुर सिंह ने व्यंग्य कसा—"आप चाहें तो अकेले अलकड़े ग्राम

की लोकोक्तियों पर ही पुस्तक लिख सकते हैं। भूमिका कुछ यों आरंभ कर सकते हैं—"जैसे अलकड़े के पकौड़े विशेषता रखते हैं और अलकड़े की संस्कृति के प्रतीक हैं, वैसे ही अलकड़े की लोकोक्तियाँ भी न केवल अलकड़े-निवासियों के स्वभाव की सूचक है, बल्कि इन्हें अलकड़े के इतिहास ने भी प्रभावित किया है।"

मैंने कहा—"आपने तो मेरे मुँह से शब्द छीन लिए, राजबहादुर जी। बस अन्तर इतना ही है कि मैं अलकड़े के स्थान पर अब अलका का प्रयोग करना ही पसन्द करूँगा। हाँ तो रूसी लोकोक्तियों की बात तो बीच ही में रह गई। एक रूसी लोकोक्ति है—'सब कन्याएं तो अच्छी हैं, फिर ये दुश्चरित्र पत्नियाँ कहाँ से आती हैं?' कहिए, कैसी लगी?"

"क्या बात है इस रूसी लोकोक्ति की!" राजबहादुर सिंह ने बढ़ावा दिया, "अब मज़ा तो तब हो कि अलका की लोकोक्तियाँ बाज़ी ले जायं।"

मैंने कहा—"मुझे याद आ रही है अलका की एक लोकोक्ति—कुत्ती रन्न खुदा दी चट्टी, न जाये वेची न जाये वट्टी। अर्थात् कुतिया रांड तो खुदा का ख्वाह म-ख्वाह् का जुर्माना है, न बेची जा सकती है, न बदली जा सकती है।"

राजबहादुर सिंह हंस-हंस कर लोट-पोट हो गये। मैंने संभाल कर कहा—"देखिए, अलका की सभी स्त्रियाँ ऐसी नहीं होतीं। बल्कि एक दो बच्चों की माँ बनने के पश्चात तो चरित्र की दृष्टि से न्यून स्तर की स्त्रियां भी अच्छी गृहणियां बन जाती हैं।"

: २ :

थोड़े दिनों के पश्चात हमारे यहाँ एक कन्या का जन्म हुआ। मैंने न हवन यज्ञ कराया, न किसी पण्डित पुरोहित की राय पूछी। बस मैंने कन्या का नाम अलका रख दिया। मुझे मालूम ही न हुआ कि कब वह माँ की

गोद से उतर कर ज़मीन पर लुढ़कने लगी। वह यों फुदकती जैसे सचमुच कोई मेंढक फुदकता है।

राजबहादुर सिंह एक दिन हमारे यहाँ आये, अलका को देख कर वे बहुत खुश हुए। बोले—"मालूम होता है कि राजा भद्रसेन की पुरानी नगरी में मेंढक बहुत होते होंगे। इसी से इस लड़की पर वह पुराना संस्कार आज भी सजीव हो उठा है। देखिए, मैं बड़े तत्त्व की बात कह रहा हूँ।"

मैंने हँस कर कहा—"मज़ाक छोड़िए। आपको एक मज़ेदार बात बताऊँ। इस लड़की का नाम मैंने अलका रखा है।"

"बहुत बढ़िया नाम रहेगा," राजबहादुर सिंह ने मेरा समर्थन करते हुए कहा, "वाह वाह, यह भी खूब रही। अलका है आम अलकापुरी का बिगड़ा हुआ रूप मैं मानूं न मानूं, पर अलका नाम की महत्ता मेरे समीप बहुत अधिक है।"

फिर मैंने उन्हें बताया कि अलकापुरी की भाषा में इस लड़की को 'डुक्कू' कहना चाहिए—अर्थात् मेंढकी।

फुदकनेवाली मेंढकी बहुत जल्द नये-नये रूप धारण करती चली गई। मैंने कभी सोचा भी न था कि अलका सचमुच इतनी चंचल निकलेगी। प्रायः मुझे अपनी पत्नी की वह बात याद आ जाती। हाँ जब अलका का जन्म नहीं हुआ था उसने बताया था—कोई चीज़ मेरे भीतर ही भीतर तैरने लगती है। यह उस समय की बात है जब अलका का जन्म होने में डेढ़ मास रहता था। मैंने हँस कर कहा था—अरे भई देखो, मछली को जन्म मत देना। मेरी पत्नी किस प्रकार झेंप-सी गई थी। उसकी वह मुखमुद्रा अक्सर मेरी कल्पना को छूने लग जाती। अब राजबहादुर सिंह को तो यह बात न बताई जा सकती थी।

इधर कुछ ऐसा संयोग हुआ कि राजबहादुर सिंह को मेरे साथ एक काम में जुटना पड़ा। रात को भी वे हमारे यहाँ ही सोयें, ऐसी व्यवस्था करनी पड़ी।

अलका को राजबहादुर सिंह कितने प्यार से 'अलक पलक' कह कर बुलाते, यह कोई कलाकार ही कर सकता था। सच कहता हूं, लड़की का नाम अलका रखने से पहले मैंने कभी सोचा भी न था कि उसे 'अलक पलक' कह कर भी बुलाया जा सकता है।

एक दिन हमने एक साथ आवाज़ दी—"अलक पलक!"

भीतर से मेरी बड़ी कन्या कविता ने आ कर कहा—"अलका तो माताजी की गोद में अभी अभी सोने जा रही है।"

मैंने मचल कर कहा—"देखो कविता, यों नहीं कहा करते। अलकापुरी की भाषा में इसे यों कहेंगे कि अलका समुद्र की आग बुझाने जा रही है।"

एक दिन 'अलक पलक' की शरारतों को देख कर मैंने श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी को लिखा—"इधर जिस समय हमारे यहाँ एक और बालिका का जन्म हुआ, बड़ी कन्या कविता सोलह वर्ष की हो चुकी थी। छोटी कन्या का नाम रखा है अलका। ठीक ही तो है, क्योंकि मालूम होता है कि अलकापुरी की सब की सब शरारतें ले कर आई है अलका।"

राजबहादुर सिंह को इस पत्र का पता चला तो बोले—"इतना और लिख दिया होता—पुरातत्त्व का नूतन अनुसन्धान हो गया। मेरे गाँव से दो ढाई कोस की दूरी पर अलकापुरी भी मिल गई।"